प्रज्ञापना

जैन दर्शन का चरम अभिप्रेत मोक्ष है, जो समग्र अनात्म-पदार्थों से छुटकारा पा आत्मस्थता की दशा है। यह जीवन का उत्कृष्टतम विकास है, दूसरे शब्दों में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है। जब तक आत्मा वैभाविक स्थितियों में बँधी रहती है, उसका स्वभाव तिरोहित रहता है। विभाव का तिरोधान और स्वभाव का अनावरण या अभ्युदय जीवन की सफलता है। इसका वैज्ञानिक विस्तार, हेय-उपादेय-भाव का याथार्थ्य जैन तत्त्ववाद का मूल उत्स है। मनीषियों ने इसका जो अति सूक्ष्म, विविक्त और गम्भीर विवेचन किया है, वह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है।

महान् द्रष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा रचित 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' से गृहीत 'जैन दर्शन में तत्त्व--मीमांसा' नामक यह पुस्तक जैन तत्त्व-ज्ञान पर एक मननीय कृति है, जिसमें मुनि श्री ने आत्मा, पुद्गल, कर्म, जाति, लोक प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर वैज्ञानिक पद्धति से प्रकाश डाला है।

श्री तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापंथ का प्रसार, तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन में संचार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्य-पूर्ति का जो महत्त्वपूर्ण कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन में सत्तत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिए चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा प्रमुखसमाज-सेवी,

साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का लक्ष्य लिये कार्य करता आरहा है, इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रबन्ध-भार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

आशा है, तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक उद्बोधप्रद सिद्ध होगी।

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा ११, २०१७

जयचन्द लाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

विषय—सूची

एक

१—२२

● जैन तत्त्ववाद की पृष्ठभूमि

○

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है अस्तिवाद के चार अंगों की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद [1]।' भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं हैं, ऐसी संज्ञा मत रखो किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो [2]।"

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर इसे 'नैयायिक' (न्याय-संगत) कहा गया है[3]। जैन साहित्य में मुनि-वाणी को—"नियोगपर्यनुयोगानर्हम्" (मुनेर्वचः) नहीं कहा जाता। उसके लिए कसौटी भी मान्य है। भगवान् महावीर ने जहाँ श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहाँ 'मतिमन् [4]! देख, विचार'—इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने समझने का अवसर भी दिया है[5]। यह संकेत उत्तरवर्त्ती आचार्यों की वाणी में यों पुनरावर्तित हुआ—"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।"

मोक्ष दर्शन

'एयं पासगस्स दंसणं'—यह द्रष्टा का दर्शन है।

सही अर्थ में जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नहीं चलता। वह आत्म-मुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने आपको पाने का रास्ता है [6]। इसका मूल मंत्र है—'सत्य की एषणा करो[7], 'सत्य को ग्रहण करो[8],' 'सत्य में धैर्य रखो,'[9] 'सत्य ही लोक में सारभूत है' [10]।

दर्शन की परिभाषा

यह संसार अनादि-अनन्त है। इसमें संयोग-वियोगजन्य सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमें गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहाँ जो हेय और उपादेय की मीमांसा (युक्ति संगत विवेचना) होती है, वही दर्शन बन जाता है [11]।

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सब से प्रमुख तत्त्व आत्मा है। "जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है[१२]।"

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सब से अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। कहना यूं चाहिए कि मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है[१३]। वस्तु का अस्तित्व स्वयंजात होता है किन्तु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। "गुलाब का फूल लाल है"—कोई जाने या न जाने किन्तु "गुलाब का फूल मन हरने वाला है"—यह बिना जाने नही होता। वह तब तक मनहर नहीं, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। "दूध सफेद है"—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं; किन्तु "वह उपयोगी है"—यह मूल्य-विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि मूल्यांकन पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तुवृत्त अस्तित्व के जगत् में रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनों आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। "वस्तु का अस्तित्व है"—इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व (स्वरूप) का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं :—

१—वस्तुवृत्त विषयक निर्णय।

२—मूल्य विषयक निर्णय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है[१४]। यही तत्त्व 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा'—इस बुद्धिद्वय से मिलता है[१५]। जैन दर्शन में यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। सन्निकर्ष, कारक-साकल्य आदि प्रमाण नहीं माने जाते। कारण यही कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) में वही क्षम है[१६]।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तुवृत्तों को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनों शाखाओं को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्व-विषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली मूल्यों की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्यनिर्णय की दृष्टियां

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां हैं :—

(१) सैद्धान्तिक या बौद्धिक।

(२) व्यावहारिक या नैतिक।

(३) आध्यात्मिक, धार्मिक या पारमार्थिक।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक होता है। यह आत्मानुभूति से परे नहीं होता। आत्म-विकास शिव है, यह आध्यात्मिक मूल्य है। पौद्गलिक साज-सज्जा सौन्दर्य है, यह व्यावहारिक मूल्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता किन्तु आत्म-विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां स्थूल नियम हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियों की जितनी अपेक्षाएं होती हैं, उतनी ही मूल्यांकन की दृष्टियां हैं। कहा भी है—

"न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।"

प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु में नहीं। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

"तानेवार्थान् द्विषतः, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।"[१७]

एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी में लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए?

व्यवहार की दृष्टि में भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की

दृष्टि में गीत-गान विलाप मात्र हैं, नाटक विडम्बनाएं हैं, आभूषण भार हैं और काम-भोग दुःख[१८]।

सौन्दर्य की कल्पना दृश्य वस्तु में होती है। वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इस चतुष्टय से सम्पन्न होती है। वर्णादि चतुष्टय किसी में शुभ परिणमनवाला होता है और किसी में अशुभ परिणमनवाला। इसलिए सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय में वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओं को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परमाणुओं के साथ वस्तु के परमाणुओं का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैपम्य हो तो आकर्षण नहीं बनता। यह साम्य और वैपम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है; वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि में आत्मा ही सुन्दर है, वही अच्छी, प्रिय, और उपादेय है। आत्म व्यतिरिक्त सब वस्तु हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—'दर्शनं स्वात्मनिश्चितिः'—अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

मूल्य के प्रत्येक निर्णय में आत्मा की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा में आत्मा का सन्तोप या असन्तोप भी अशुद्ध होता है। इसलिए इस दशा में होने वाला मूल्यांकन नितान्त बौद्धिक या नितान्त व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नहीं होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है।

दर्शन आत्मा का निश्चय है[१९]।
बोध आत्मा का ज्ञान है।
चारित्र आत्मा में स्थिति या रमण है।

यही तत्त्व आचार्य शंकर के शब्दों में मिलता है—"ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजः, अविद्याधनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्[२०]।"

यह आध्यामिक रत्नत्रयी है। इसीके आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और संवर उपादेय। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय। वेदान्त के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिए हुए चलते हैं।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महा-पुरुषों (आप्तजनों) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व-उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार-पद्धतियों की दृष्टि से वे (दर्शन) अनेक हैं।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्‌गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है। इसीलिए एकांगी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं :—

(१) जीवन की बौद्धिक मीमांसा दर्शन है।

(२) जीवन की आलोचना दर्शन है। आदि-आदि।

इनमें पूर्णता नहीं किन्तु अपूर्णता में भी सत्यांश अवश्य है।

आस्तिक दर्शनों की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊँगा[२१]?"

"इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सचाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी क्या करेगा जब कि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं

होता[22]" इसलिए "पहले सत्य को जानो और वाद में उसे जीवन में उतारो[23]।"

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नहीं वनती, उसे लेकर क्या करूं। जो अमृतत्व का साधन हो वही मुझे वताओ[24]।" कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है[25]।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधन-भूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व वताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद वन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है[26]।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न यह रहता है कि सत्य क्या है? जैन आगम कहते हैं—"वही सत्य है, जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है[27]" वैदिक सिद्धान्त में भी यही लिखा है—"आत्मा जैसे गूढ़ तत्त्व का क्षीणदोषयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं[28]।" उनकी वाणी अध्यात्म-वादी के लिए प्रमाण है। क्योंकि वीतराग अन्यथा भाषी नहीं होते। जैसे कहा है—"असत्य वोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं वोलता[29]।"

"वीतराग अन्यथा भाषी नहीं होते" यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हें पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है, जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा, वीतराग-वाक्य यानी यथार्थवक्तृत्व, ये दो प्रतिज्ञाएं हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएं हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को

आगम-सिद्धान्त माना है[३०]। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एवं यथार्थ-वक्ता से हमें जो कुछ मिला, वही सत्य है।

दार्शनिक परम्परा का इतिहास

स्वतन्त्र विचारकों का खयाल है कि इस दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत में अन्ध विश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यों ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यों न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी। इस उलझन को पार करने के लिए हमें दर्शन-विकास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिकों का दर्शन-युग उपनिषद्काल से शुरू होता है। आधुनिक-अन्वेषकों के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उपनिषदों का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलकने मैत्र्युपनिषद् का रचनाकाल ईसासे पूर्व १८८० से १६८० के बीच माना है। बौद्धों का दार्शनिक युग ईसासे पूर्व ५वीं शताब्दी में शुरू होता है। जैनों के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़े। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्टकाल आगम-प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमों से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चल कर कुछ विशद रूप में बताया जाएगा। इसलिए प्रस्तुत विषय में उस युग को दार्शनिक युग की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थों की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओं के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमें ऋषि उपदेश देते गए और वे उनके उपदेश 'आगम' बनते गए। अपने-अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियों द्वारा उनका समर्थन किया

जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी में बोलते हैं--"मैं यों कहता हूँ [३१]।" दार्शनिक युग में यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—"इसलिए यह यों है।" आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग में परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नहीं हुई। हो भी नहीं सकती। इसी बात की सूचना के लिए ही यहाँ श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम में प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहाँ हमें आज्ञारुचि[३२] एवं संक्षेपरुचि[३३] का दर्शन होता है, वहाँ विस्ताररुचि भी उपलब्ध होती है[३४]। इन रुचियों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम युग अमुक-अमुक समय नहीं किन्तु व्यक्तियों की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति आगम-युग अर्थात् आज्ञारुचि या संक्षेपरुचिवाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखें तो दार्शनिक युग यानी विस्तार-रुचि, आगमिक यानी आज्ञारुचि। दर्शन के हेतु बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारों ने लिखा है—"श्रौत वाक्य सुनना, युक्तिद्वारा उनका मनन करना, मनन के बाद सतत-चिन्तन करना—ये सब दर्शन के हेतु हैं[३५]।" विस्ताररुचि, की व्याख्या में जैनसूत्र कहते हैं—"द्रव्यों के सब भाव यानी विविध पहलू प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाण एवं नैगम आदि नय—समीक्षक दृष्टियों से जो जानता है, वह विस्ताररुचि है[३६]।" इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम में दर्शन है और दर्शन में आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद्-बुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्प-बुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमें परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशदबुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दों में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनों के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है अन्यथा सत्यदर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—"इन्द्रिय विषय और अतीन्द्रिय-विषय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को

जानने के लिए आगम—ये दोनों मिल हमारी सत्योन्मुख दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं[३७]।" यहाँ हमें अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ में लेना होगा अन्यथा विषय की संगति नहीं होती क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहाँ कि युक्ति कोई काम नहीं करती। हमारी दृष्टि के दो अङ्गों का आधार भावों की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागों में विभक्त होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य[३८]। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य···(आगमगम्य) है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यों नहीं जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। सामान्य युक्ति में भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्नाः—"स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नहीं होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं यहाँ तर्क के लिए स्थान नहीं है[३९]।"

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी सम्पूर्ण दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता बतलाई है[४०]। जहाँ श्रद्धा या तर्क का अतिरंजन होता है, वहाँ ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि "जो हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष में आगमिक है, वही स्वसिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधक है।"

आगम तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो स्यात् आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी बात मानें किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय में ही ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है[४१]। बाद में उनकी शाखा प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सचाई बनाए रखना कठिन हो गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। "विज्ञानमय आत्मा का श्रद्धा ही सिर है[४२]" यह सूत्र "वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है" इससे जुड़ गया[४३]। "जो द्विज धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का तर्कशास्त्र के सहारे अपमान करता है वह नास्तिक और वेदनिन्दक है, साधुजनों को उसे समाज से निकाल देना चाहिए[४४]।" इसका स्थान गौण होता चला गया और "जो तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं" इसका स्थान प्रमुख हो चला[४५]। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' यह उक्ति गूंजने लगी। "वही धर्म सत्य माना जाने लगा, जो कष, छेद और ताप सह सके[४६]।" परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहाँ व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—'युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः[४७]।'

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है इसका प्राधान्य हो गया[४८]।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया[४९]। "वाद को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला[५०]। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और शिष्य के बीच होनेवाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा। किन्तु जहाँ दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहाँ वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता। मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है[५१]।

आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्कवाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाएं भिन्न हैं[५२]।"

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ाने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है। "तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"—युधिष्ठिर के ये उद्‌गार तर्क की अस्थिरता और मतवादों की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं[५३]। मध्यस्थ वृत्तिवाले आचार्य जहाँ तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहाँ शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे[५४]।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने के पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी, जो सत्य के दो रूप हमें इस विवरण से मिलते हैं—(१) आगम को प्रमाण मानने वालों के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो सर्वज्ञकथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है। (२) आगम को प्रमाण न मानने वालों के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है। किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहाँ तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालों के लिए चिन्तनीय है। हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दें तो वह सत्यसन्धानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए हैं, आत्मवञ्चना या दूसरों को जाल में फंसाने के लिए नहीं, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दों में "सत्य ही लोक में सारभूत है[५५]।" उपनिषद्‌कार के शब्दों में "सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है[५६]।" "आत्महितेच्छु पुरुष असत्य चाहे वह कहीं हो, को छोड़ सत्य को ग्रहण करे[५७]।" कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचारपद्धति, तत्त्वज्ञान[५८], विचारप्रयोजकज्ञान[५९] अथवा परीक्षा-विधि का नाम दर्शन है[६०]। उसका मूल उद्‌गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए, उसीका वह (विचार) दर्शन बन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन (धर्म-दर्शन) आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर वृहस्पति का लोकायत मत और अजितकेश-कम्बली का उच्छेदवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचार-धाराएं सामने आई[६१]। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही चिपटा न रह सका। दर्शन यानी विश्व की मीमांसा (अस्तित्व या नास्तित्व का विचार) अथवा सत्य-शोध का साधन। पाश्चात्य दार्शनिकों की विशेषतः कार्लमार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिकों ने जगत् को समझने की चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए[६२]।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनों के तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया, यह तो नहीं, किन्तु हाँ धर्म-कर्म की भूमिका से हटकर उन्होंने समाज को नहीं तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस रहा।

कहा भी है—

यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नहीं रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिकों का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है शरीरमुक्ति—पूर्णस्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिकों का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपभोग में कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ में चला, अब उसमें नहीं रहा।

हरिभद्रसूरि ने वैकल्पिक दशा में चार्वाक मत को छह दर्शनों में स्थान दिया है [६३]। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आंखें मूंदने जैसा है।

दर्शनों का पार्थक्य

दर्शनों की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र आत्मविचार सम्बन्धी नहीं रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलनेवाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' संज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधार-शून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे, सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वों की व्याख्या से शुरू होता है। सांख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें सब में स्वाभिमत २५, ६, १६, या ६ तत्त्वों की ही परीक्षा है। उन्होंने ये अमुक-अमुक संख्या बद्ध तत्त्व क्यों माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नहीं, क्योंकि वह सत्यद्रष्टा तपस्वियों के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नहीं, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिकों ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप में व्यक्त करते हैं। ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवताओं ने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया [६४]।" संक्षेप में सार इतना ही है कि ऋषियों के के समय में आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव में उन्हीं की वाणी के आधार पर दर्शन-शास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातूं प्लेटो का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है [६५]।" पश्चिमी दर्शन का उद्गम संशय से हुआ—ऐसी मान्यता है। भारतीय दर्शन का स्रोत है—दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा [६६]।

जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। "यह संसार अध्रुव और दुःखबहुल है। वह कौनसा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचूं, दुःख-परम्परा से मुक्ति पा सकूं [६७]।" इस चिन्तन का फल है—आत्मवाद। "आत्मा की जड़ प्रभावित दशा ही दुःख है [६८]।" "आत्मा की शुद्ध दशा ही सुख है [६९]।"

कर्मवाद इसी शोध का परिणाम है। "सुचीर्ण का फल सत् होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत् [७०]।"

"आत्मा पर नियंत्रण कर, यही दुःख-मुक्ति का उपाय है [७१]।"

इस दुःख-निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इनकी शोध के साथ साथ दूसरे अनेक तत्त्वों का विकास हुआ।

आश्चर्य और संशय भी दर्शन-विकास के निमित्त बनते हैं। जैन सूत्रों में भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा में हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण बताए हैं। उनमें दो कारण हैं—"जाय संशए, जाय कोउहल्ले" (भगवती १।१) उनको संशय हुआ, कुतूहल हुआ तथा भगवान् महावीर से समाधान मांगा, भगवान् महावीर ने उत्तर दिये। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्व ज्ञान की अमूल्य निधि हैं।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ है स्वतन्त्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व (स्वपूर्णता) का अनुभव करना है।

प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न-सत्तात्मक तत्त्व नहीं हैं। अशुद्ध दशा में जो आत्मा होती है, वहीं शुद्ध दशा में परमात्मा बन जाती है।

अशुद्ध दशा में आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत्त होते हैं, वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही, यह नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा में परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा—"दार्शनिकों ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है किन्तु उसे बदलने का नहीं।" यह सर्वाङ्ग सुन्दर नहीं है। परिवर्तन के प्रति दो दृष्टि विन्दु हैं—बाह्य और आन्तरिक। भारतीय दर्शन आन्तरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले हैं। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नहीं, वह केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, का परिवर्तन सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है, यह दूसरी बात है। जैन-दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आन्तरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है किन्तु उससे आत्म-मुक्ति का द्वार नहीं खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नहीं है।

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न? जीवों में जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत? कर्म का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं जीव है या अन्य कोई? आदि-आदि अनेक समस्याएं हैं, जो मनुष्य को संदिग्ध किये रहती हैं।

(१) लोक शाश्वत है तो विनाश और परिवर्तन कैसे? यदि वह अशाश्वत है तो भेद-अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि कैसे?

(२) आत्मा शाश्वत है तो मृत्यु कैसे? यदि अशाश्वत है तो विभिन्न चैतन्य-सन्तानों की एकात्मकता कैसे?

(३) आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति कैसे? यदि वह शरीर से अभिन्न है तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यों?

(४) जीवों की विचित्रता कर्म-कृत है तो साम्यवाद कैसे ? यदि वह अन्यकृत है तो कर्मवाद क्यों ?

(५) कर्म का कर्त्ता और भोक्ता यदि जीव ही है तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे ? यदि जीव कर्ता-भोक्ता नहीं है तो कर्म और कर्म फल से उसका सम्बन्ध कैसे ? इन सबका समाधान करने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। एकान्त दृष्टि के एकांगी विचारों से इनका विरोध नहीं मिट सकता।

(१) लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल में वह एक रूप नहीं रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकान्ततः शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्ततः अशाश्वत होता है, उसमें अन्वयी सम्बन्ध नहीं हो सकता। पहले क्षण में होनेवाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नहीं घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल में टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यों कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो तो अतीत और अनागत के भेद का कोई आधार ही नहीं रहता। इसीलिए विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा 'लोक शाश्वत है' यह माने विना भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

(२) आत्मा के लिए भी यही बात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं:—द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—(आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणों में रहता है, अन्वयी है, चैतन्य पर्यायों का संकलन कर्ता है) पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है (विभिन्न रूपों में—एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उसका परिणमन होता है)

(३) आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और संयोग एवं उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है, शरीर का स्वरूप जड़, इसलिए ये दोनों भिन्न हैं। संसारा-वस्था में आत्मा और शरीर का दूध पानी की तरह, लोह अग्नि-पिंड की तरह

एकात्म्य संयोग होता है, इसलिए, शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन और कर्म का विपाक होता है।

(४) एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है—विचित्र है उसका कारण कर्म अवश्य है किन्तु केवल कर्म ही नहीं। उसके अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति। उद्योग आदि अनेक तत्त्व हैं। कर्म दो प्रकार का होता है :—सोपक्रम[७२] और निरुपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष[७३]। फल-काल में कई कर्म बाहरी स्थितियों की अपेक्षा नहीं रखते और कई रखते हैं, कई कर्म-विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते हैं और कई उसके बिना भी। कर्मोदय अनेक विध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद से विरोध नहीं है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियों की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रों में कल्पातीत देवताओं की समान-स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कहीं अधिक रोमाञ्चकारी है। कल्पातीत देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, अनुभव, सुख समान होता है, उनमें न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक और न कोई पुरोहित, वे सब अहमिन्द्र—स्वयं इन्द्र हैं[७४]। अनेक देशों में तथा समूचे भूभाग में भी यदि खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज समान हो जाएं, स्वामी-सेवक का भेद-भान मिट जाए, राज्य सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे तो उससे कर्मवाद की स्थिति में कोई आंच नहीं आती। रोटी की सुलभता से ही विषमता नहीं मिटती। प्राणियों में विविध-प्रकार की गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग सम्बन्धी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विचित्र कर्म ही हैं[७५]। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पांच इन्द्रियवाला मनुष्य ! यह विषमता क्यों ? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

मुक्त आत्माएं कर्म की कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नहीं हैं। बद्ध आत्माएं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वयं कर्त्ता भोक्ता होकर भी, जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यों करें और कर भी लें तो उनका अनिष्ट फल स्वयं क्यों भोगे ? इस प्रश्न के मूल में ही भूल है।

आत्मा में कर्तृत्व शक्ति है, उसीसे वह कर्म नहीं करती; किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रवल प्रेरणा होती है। पूर्व-कर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दवती नहीं तो सब जगह उसे टाल भी नहीं सकती। एक बुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा में बुरी प्रेरणा छोड़ देता है। भोक्तृत्व शक्ति की भी यही बात है। आत्मा में बुरा फल भोगने की चाह नहीं होती पर बुरा या भला फल चाह के अनुसार नहीं मिलता, वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक वात है। विष खाने वाला यह न चाहे कि मैं मरूँ, फिर भी उसकी मौत टल नहीं सकती। कारण कि विष की क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह उसे खाने की क्रिया पर निर्भर है। विस्तार से आगे पढ़िए।

दो प्रवाह

ज्ञान का अंश यत्किंचित् मात्रा में प्राणी-मात्र में मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। उनमें बौद्धिक विकास अधिक होता है। बुद्धि का काम है सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उन्होंने सोचा, समझा, तत्त्व का अन्वेषण किया। उसमें से दो विचार प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले "क्रियावादी' और इन पर विश्वास नहीं करने वाले अक्रियावादी" कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन विताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन विताने को ही परमार्थ वतलाया। क्रियावादियों ने—"देहे दुक्खं महाफलं[७६]" "अत्तहियं खु दुहेण लब्भई[७७]।" शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है। "आत्महित कष्ट सहने से सधता है"—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मन्तव्य के आधार पर—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्"—जैसी युक्तियों का सर्जन हुआ। क्रियावादी वर्ग ने कहा—"जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापिस नहीं आता[७८]। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं।

इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो [७९]। क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षण भंगुर है [८०]। यदि इस जीवन को व्यर्थ गँवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है [८१]। कर्मों के विपाक बड़े निविड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो? ऐसा सद् विवेक बार-बार नहीं मिलता [८२]। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रियां शक्ति-हीन न बनें तब तक धर्म का आचरण कर लो[८३]। नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राज-मार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जाने वाला गाड़ीवान्, रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है [८४]।

अक्रियावादियों ने कहा—"यह सब से बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं [८५]। ये काम-भोग हाथ में आये हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं, जो पीछे होने वाला है वह न जाने कब क्या होगा? परलोक किसने देखा है—कौन जानता है कि परलोक है या नहीं [८६]। जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, तब फिर हम क्यों न करें? जो दूसरों को होगा वही हम को भी होगा [८७]। हे प्रिये! चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी आनन्द कर जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है [८८]। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं है। कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्त्विक है [८९]।" क्रियावाद की विचारधारा में वस्तु स्थिति स्पष्ट हुई, लोगों ने संयम सिखा, त्याग तपस्या को जीवन में उतारा। अक्रियावाद की विचार प्रणाली से वस्तु-स्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े। क्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल होता है [९०]। शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है [९१]। फलस्वरूप लोगों में धर्म रुचि पैदा हुई। अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह का महत्त्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य,

अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता [१२]। शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नहीं होते। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता"—फलस्वरूप लोगो में सन्देह बढ़ा, भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा इच्छा, महा आरम्भ और महा परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर्-दृष्टि—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"—अपने किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं,—इस पर लगी रहती है [१३]। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए—यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबड़ाता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु को वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि बिन्दु—"हत्था गया इमे कामा" जैसी भावना पर टिका हुआ होता है [१४]। वह सोचता है कि इन भोग-साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा से सकुचाता नहीं[१५]। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों को स्मरण कर पछताता है [१६]। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक काँप उठते हैं—नास्तिकता को तिलाञ्जलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है [१७]। जो दुराचारी जीवों की गति है, जहाँ क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है। क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि "आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो [१८]"। वह अमूर्त्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं है। वह अमूर्त्त है, इसलिए नित्य है।

अमूर्त्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरान्त भी स्वकृत अज्ञानादि दोषों के बन्धन में बन्धा हुआ है, वह बन्धन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि :—

"यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है [९९]। इस जगत् में केलव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश,—ये पांच महाभूत ही हैं। इनके समुदय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है [१००]। भूतों का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तैल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है [१०१]। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक राष्ट्रिय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का ख्याल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसाबहुल विचारधारा में बह चले हैं। जीवन की क्षणभंगुरता को विसार कर महारम्भ और महापरिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी ? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें। आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान से आँखें मूंद लेना नहीं है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राण-घात से भी अधिक भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर् ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्याङ्कन करते हुए लिखा है कि—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है। जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पारभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

दो

· पुर्नजन्म
अन्तरकाल
द्वि-सामयिक गति
त्रि-सामयिक गति
जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय
स्व-नियमन

आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा, इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए ? क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है—चिन्तन करता है। वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है, किन्तु आगम-निरपेक्ष होकर नहीं। इसलिए विश्ववर्त्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है [1]। वह अरूपी सत्ता है [2]।

अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ जो रूपी हैं, वे भी इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को सर्वेसर्वा मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता। समूचे का सार इतना-सा है—अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं। अध्यात्मवाद ने इसका समाधान देते हुए कहा—आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं—इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है। क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

आत्मवादी पूर्व-प्रश्न का उत्तर देकर ही चुप न रहे। उन्होंने आत्म-सिद्धि के प्रबल प्रमाण भी उपस्थित किए। उनमें से कुछ एक निम्न प्रकार हैं :—

स्व संवेदन :—

(१) अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। मैं हूँ, मैं सुखी

हूँ, मैं दुःखी हूँ—यह अनुभव शरीर को नहीं होता। शरीर से भिन्न जो वस्तु है, उसे यह होता है। शंकराचार्य के शब्दों में—"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूँ'। यह विश्वास किसीको नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ' [3]।

(२) प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण के द्वारा प्रमाणित होता है। जिस पदार्थ में एक ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले, जो किसी भी दूसरे पदार्थ में न मिले, वही स्वतन्त्र पदार्थ हो सकता है। आत्मा में 'चैतन्य' नामक एक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं मिलता। इसीलिए आत्मा दूसरे सभी पदार्थों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है।

(३) प्रत्यक्ष गुण से अप्रत्यक्ष गुणी जाना जा सकता है। भूगृह में बैठा आदमी प्रकाश-रेखा को देखकर क्या सूर्योदय को नहीं जान लेता?

(४) प्रत्येक इन्द्रिय को अपने अपने निश्चित विषय का ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय का दूसरी इन्द्रिय के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन्द्रियां ही ज्ञाता हों—उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो तो सब इन्द्रियों के विषयों का जोड़ रूप ज्ञान नहीं हो सकता। फिर—"मैं स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द को जानता हूँ"—इस प्रकार जोड़रूप (संकलनात्मक) ज्ञान किसे होगा? ककड़ी को चबाते समय स्पर्श, रस, गन्ध रूप और शब्द—इन पांचों को जान रहा हूँ—ऐसा ज्ञान होता है। इसीलिए इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान करने वाले को उनसे भिन्न मानना होगा और वही आत्मा है।

(५) पदार्थों को जानने वाला आत्मा है, इन्द्रियां नहीं, वे सिर्फ साधन मात्र हैं। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां कुछ भी नहीं जान पाती। इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों का आत्मा को स्मरण रहता है। आँख से कोई चीज देखी, कान से कोई बात सुनी, संयोगवश आँख फूट गई, कान का पर्दा फट गया, फिर भी उस दृष्ट और श्रुत विषय का भली भांति ज्ञान होता है। इससे यह मानना होगा कि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी उनके ज्ञान को स्थिर रखने वाला कोई तत्त्व है और वही आत्मा है।

(६) जड़ और चेतन में अत्यन्ताभाव है—अतः त्रिकाल में भी न तो जड़ कभी चेतन बन सकता हैं और न जड़ से चेतन उपज सकता है।

(७) जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है। वह उसी रूप में परिणत होता है। जड़-उपादान कभी चेतन के रूप में परिणत नहीं हो सकता।

(८) जिस वस्तु का विरोधी तत्त्व न मिले, उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि चेतन नामक कोई सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन-अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध नहीं होता।

(९) आत्मा नहीं है—इसका 'यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं, इसके सिवाय कोई प्रमाण नहीं मिलता। आत्मा 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं,' इसका समाधान पहले किया जा चुका है।

ज्ञेय वस्तु, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक [ज्ञाता] है। इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और वस्तु समूह ग्राह्य (ज्ञेय) है। लोहार संडासी से लोह-पिंड को पकड़ता है—वहाँ लोह-पिंड (ग्राह्य), संडासी [ग्रहण का साधन] और लोहाकार [ग्राहक] ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो संडासी लोह-पिंड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां अपने विषय का ग्रहण नहीं कर सकतीं [४]।

जो यह सोचता है कि शरीर में 'मैं' नहीं हूँ, वही जीव है। चेतना के बिना यह संशय किसे हो। 'यह है या नहीं' ऐसी ईहा या विकल्प जीव का ही लक्षण है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, "वह खम्भा है या आदमी" यह प्रश्न सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठ सकता है [५]।

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब एक रूप नहीं होते। कोई इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, कोई नहीं भी। जीव अनिन्द्रिय गुण है। इसलिए चर्म चक्षु से वह नहीं दीखता [६]। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह नहीं है।

जीव न हो तो उसका निषेध कैसे बने? असत् का कभी निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अवश्य होता है। निषेध के चार प्रकार हैं :—

(१) संयोग	(३) सामान्य
(२) समवाय	(४) विशेष

"मोहन घर में नहीं है"—यह संयोग प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नहीं किन्तु—"वह घर में नहीं है"—इस 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है।

"खरगोश के सींग नहीं होते"—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी, इनका प्रतिषेध नहीं है। यहाँ केवल 'खरगोश के सींग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नहीं है'—इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है।

'मोती घड़े जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं किन्तु 'उस घड़े जितने बड़े'—यह जो विशेषण है, उसका प्रतिषेध है।

'आत्मा नहीं है' इसमें आत्मा का निषेध नहीं होता। उसका किसीके साथ होने वाले संयोगमात्र का निषेध होता है [७]।

आत्मा क्या है?

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है [८]। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है [९]। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है [१०]। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है [११]। वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, टेढ़ा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मंडलाकार नहीं है। वह हल्का नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है [१२]। वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असंख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड कहलाता है। वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं। वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[१३] और तर्क द्वारा गम्य नहीं है [१४]। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं। साधारणतया ये दो भागों में विभक्त हैं—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि

कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-रूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊँचे लोक के चरम भाग में होता है। वे मुक्त होते ही वहाँ पहुँच जाते हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। बन्धन के कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के बाद वह फिर कभी नीचे नहीं आता। वहाँ से अलोक में भी नहीं जा सकता। वहाँ गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो संसारी आत्माएँ हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। संसारी आत्माएँ शरीर से बन्धी हुई हैं। उनका स्वतन्त्र परिणाम नहीं है।

उनमें संकोच और विस्तार की शक्ति होती है। जो आत्मा हाथी के शरीर में रहती है, वह कुंथु के शरीर में भी रह सकती है। अतएव वे 'स्वदेह परिमाण, हैं। मुक्त आत्माओं का परिमाण (स्थान-अवगाहन) भी पूर्व-शरीर के अनुपात से होता है। जिस शरीर से आत्माएं मुक्त होती हैं, उसके⅓ भाग जो पोला है उसके सिवाय⅔ भाग में वे रहती हैं—अन्तिम मनुष्य-शरीर की ऊँचाई में से एक तृतीयांश छोड़कर दो तृतीयांश जितने क्षेत्र में उनका अवगाहन होता है। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से दवा रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवों के ये छह निकाय, शारीरिक परमाणुओं की भिन्नता के अनुसार रचे गए हैं। सब जीवों के शरीर एक से नहीं होते। किन्हीं जीवों का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्हीं का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पहले पांच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर-उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते-फिरते हैं, संकुचित होते हैं, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में ये बातें नहीं होती अतः उनकी चेतनता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

(१) जीव स्वरूपतः अनादि अनन्त और नित्यानित्य :—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य-नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

(२) संसारी जीव और शरीर का अभेद :—

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार-दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

(३) जीव का परिमाण :—

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है, वह कुन्थु के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

(४) आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से :—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

(५) आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त्त की दृष्टि से :—

जैसे आकाश अमूर्त्त है, फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

(६) जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध :—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

(७) जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से :—

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है।

(८) जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से :—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्याएं बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

(६) जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से :—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

(१०) जीव और सूर्य की—भवानुयायित्व की दृष्टि से तुलना :—

जैसे दिन में सूर्य यहाँ प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

(११) जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण :—

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है। वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

झंझा, मृदङ्ग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

(१२) जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण :—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नहीं दीखता फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

(१३) जीव के कर्म का परिणमन :—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातु के रूप में परिणत होता है,

वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

(१४) जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध :—

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव भी संवर-तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

(१५) जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं :—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं, वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि सहगत हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला (कूटस्थनित्य नहीं हैं), कर्त्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं [१५]। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूँ आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि यह कहूँ कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ," एक जगह नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है

और आत्मा नहीं है यह भी कहा है[१६]। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है ? कहाँ से आया है ? और कहाँ जाएगा ?—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा, "तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहाँ से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

"अमूर्त श्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने"—॥

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृत्ति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उसके अनुसार—"एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः"—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि-उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं; वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी[१७] और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा नैक्यवादी है[१८]।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण[१९] मन से[२०] भिन्न विभु-व्यापक[२१] और अपरिणामी है[२२]। वह वाणी द्वारा अगम्य है[२३]। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया है[२४]।—"वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है; न संघ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है,

न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है—उसमें न अन्तर है, न बाहर है [२५]।"

संक्षेप में :—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय—वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं। गहरी नींद में वह चेतना-विहीन हो जाती है। वैशेषिक—मोक्ष में उसकी चेतना नष्ट हो जाती है। सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग होता है। चेतना की आवृत दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत्त-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन दृष्टि से तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है [२६]। इस अन्न रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके शिर आदि अंगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है [२७]। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है [२८]। इस प्राणमय शरीर की तुलना स्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है [२९]।

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है [३०]।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है [३१]। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राणी और अप्राणी में क्या भेद है, यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आन्दोलित नहीं करता। प्राण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। वह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव[३२]	अजीव[३३]
(१) प्रजनन शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन शक्ति नहीं।
(२) वृद्धि	वृद्धि नहीं [३४]।
(३) आहार-ग्रहण[३५] स्वरूप में परिणमन विसर्जन………	नहीं
(४) जागरण, नींद, परिश्रम विश्राम	नहीं
(५) आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	नहीं
(६) भय-त्रास[३६]	नहीं

भाषा अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती—त्रस जीवों में होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का व्यापक लक्षण नहीं बनता।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।

अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश, और काल गतिशील नहीं हैं, केवल पुद्‌गल गतिशील हैं। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध परमाणु-समुदय गतिशील हैं [३७]। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध-प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्‌गल-स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घटना, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (पारद्रष्टा मिथ्यादृष्टि) को "ये सब जीव हैं"—ऐसा भ्रम हो जाता है [३८]।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल वीर्य हैं [३९]। ये शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्‌गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्‌गल और चेतन-मुक्त पुद्‌गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींचीं जा सकती [४०]।

जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय जन्म, वृद्धि, सजातीय, उत्पादन, क्षत-संरोहण [घाव भरने की शक्ति] और अनियमित तिर्यग्‌गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टोरपिडो [Torpedo] में स्वयं चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं।

ऐसा कोई यन्त्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के विना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग् गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड़ सकती है पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएँ हैं। जड़ में ये नहीं मिलती।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक मात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों में अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा है—"सव्व जीवाणं पि य अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्चुग्घाडियो। सो वि पुण आवरेज्जा, तेण जीवा अजीवत्तणं पावेज्जा"—केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत्त हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है [४१]।

यह आत्मा प्रदेश मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है [४२]।

यह आत्मा शरीर-व्यापी है [४३]।

यह आत्मा सर्व-व्यापी है [४४]।

हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है [४५]।

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य प्रदेशी हैं। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है [४६]। 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है [४७]।

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चारों सम-तुल्य हैं [४८]। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियां होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नहीं है—वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बन्धे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं—वहाँ चरम शरीर के ठोस भाग—दो तिहाई भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा वालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल शरीर व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव सहित हो जाएगी और अवयव सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है, अतः अनित्य है? इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य व अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवकता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में वाधक नहीं है।

जीव-परिमाण

जीवों के दो प्रकार हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अनन्त हैं। संसारी जीवों के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्नप्रकार है :—

पृथ्वी.........असंख्य जीव
पानी.........,, ,,
अग्नि.........,, ,,
वायु.........,, ,,
वनस्पति.........,, अनन्त जीव
त्रस.........,, असंख्य जीव

त्रस काय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव आधार विना नहीं रह सकते। इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में हैं [४९]।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है :—

एक हरे आंवले के समान मिट्टी के ढ़ेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाय तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५०]।

पानी की एक बून्द में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५१]।

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५२]।

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस खस के दानें के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५३]।

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है?—इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं :—

(१) एक पाक्षिक क्रियावाद [भूत चैतन्यवाद]

(२) मनोदैहिक सहचरवाद

(३) अन्योन्याश्रयवाद

भूत चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है, मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत

करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है, वैसे ही चेतना [आत्मा] मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—"चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है" इसमें द्व्यर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रियाशब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएँ सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया— ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतना-हीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतना-हीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए "*पादरी बटलर*" ने लिखा है—"आप, हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारुद की भाँति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं? क्या फांसी के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित डिफरेनशियल केल्कुलस [Differential calculus] निकल सकता है?...आप मनुष्य की जिज्ञासा का—

"परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई?"—सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते[५४]। पाचन और श्वासोश्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं। शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण मानने वालों के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करने वाले हैं" इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते।

दूसरे वाद—'मनो दैहिक सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर-सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है। जैसे :—

(१) मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक-शक्ति दुर्बल हो जाती है।

(२) मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस [ounce] तक का और स्त्रियों का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इसमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवादरूप असाधारण मानसिक शक्ति वालों का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

(३) ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

(४) दिमाग पर आघात होने से स्मरण शक्ति क्षीण हो जाती है।

(५) दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानस शक्ति में हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

जैसे :—

(१) निरन्तर चिन्ता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

(२) सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है।

(३) उदासीन-वृत्ति एवं चिन्ता से पाचन शक्ति मन्द हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विपाक्त बन जाता है।

"चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे धातवो यान्ति नाशम्।"

अर्थात्—"यह धातुमय शरीर चित्त के अधीन है। चित्त स्वस्थ होता है, तब बुद्धि में स्फुरणा आती है। इसलिए चित्त को सर्वथा स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त-ग्लानि होने से धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं।"—

इन घटनाओं के आलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय-वादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुँच गए। दोनो शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य कारण का सम्बन्ध कैसे? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थों का सम्बन्ध

[अरूप और सरूप का सम्बन्ध]

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनो का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में यों किया गया है। संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म-शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त्त जीव मूर्त्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए संसार-दशा में जीव कथञ्चित् मूर्त्त भी है। उनका अमूर्त्त रूप विदेह-दशा में प्रगट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असम्भव नहीं। अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है—यह उचित है। इनमें क्रिया प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अरूप [ब्रह्म] का सरूप [जगत्] के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त के लिए एक जटिल समस्या है। संगति से असंगति [ब्रह्म से जगत्] और असंगति से फिर संगति की ओर गति क्यों होती है? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है। किन्तु वस्तुवृत्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नहीं हो सकता। संसारी आत्माएं अरूप नहीं होतीं। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त्त होता है किन्तु संसार दशा में उसकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त दशा में बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातों से कोई लगाव नहीं होता।

विज्ञान और आत्मा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक चीज है। दूसरे शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। "पावलोफ्" ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क [सिरेब्रम] के करोड़ों सैलों [Cells] की क्रिया है। 'बर्गसां' जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को "पावलोफ्" मस्तिष्क के सैलों [Cells] की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative plate] में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के

चित्र प्रतिविम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है तब वे जाग्रत हो जाते हैं। निम्नस्तर से ऊपरीस्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोगों के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाएं की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन 'तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान-अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं[५५]। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। जिसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्य जनक घटना नहीं। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो "मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है, ऐसा होने पर उसके विचित्रगुण-चेतन क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नए गुण देखे जाते हैं, जो पहिले मौलिकतत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है, कि उसे विलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए[५६]।"

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के वारे में भी अभी कितना संदिग्ध है। अस्तु मस्तिष्क को अतीत के प्रतिविम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative Plate] की भांति वर्तमान के चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे

स्मृति का साधन भले ही माना जाए किन्तु उस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उनके पीछे छिपे हुए कारण स्वतंत्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने विना नहीं जाने जा सकते। "यह क्यों? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नहीं हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा"—ज्ञान की इत्यादि क्रियाएं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट [Plate] की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिविम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियमन मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर वड़े-वड़े निष्कर्ष निकालता है—भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टान्त की भी मानस क्रिया में संगति नहीं होती।

तर्क-शास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अंकित प्रतिविम्बों के परिणाम नहीं। अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतंत्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट वस्तु के प्रतिविम्ब नहीं। इसलिए हमें स्वतंत्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष में आने वाली चेतना की विशिष्ट क्रियाओं की किसी भी तरह अवहेलना नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी 'वर्गसां' की आत्म-साधक युक्ति को—'चेतन और अचेतन का संवंध कैसे हो सकता है?'—इस प्रश्न के द्वारा व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। 'वर्गसां' के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए वताया गया है कि—'वर्गसां' जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वों से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते हैं। ऐसा सावित करने में उनकी सवसे जवरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अंग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान में लाने का वाहन नहीं वन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है, यह आसान समस्या नहीं है। चेतन और अचेतन इतने विरूद्ध द्रव्यों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

स्थापित करना तेल में पानी मिलाने जैसा है। इसीलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूंढ़ा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नहीं हो सकती।

सजीवतच्छरीर वादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिकों की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की श्वाँस ली है,—उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिकों ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। संसार-दशा में आत्मा और शरीर—ये दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद बतलाया है—अर्थात् "आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी [५७]।" शरीर और आत्मा का क्षीर-नीवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है। यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित् अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं [५८]। तथा इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण भी मिलते हैं [५९]। शरीर से आत्मा का कथंचित्-भेद होता है [६०]। इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श कहा जाता है [६१]। आत्मा और शरीर का भेदाभेद स्वरूप जानने के पश्चात् "अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से संवन्ध कैसे होता है?" यह प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता। विश्ववर्त्ती चेतन या अचेतन सभी पदार्थ परिणामी नित्य हैं। ऐकान्तिक रूप से कोई भी पदार्थ मरण-धर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वयं नित्य भी है और अनित्य भी [६२]। सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव नहीं होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होती है। स्वरूपस्थ होने के वाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त्त वनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से सम्वन्ध नहीं होता। वद्ध-आत्मा स्थूल शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहता है। स्थूल शरीर में वह प्रवेश नहीं करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वयं उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व संवन्ध नहीं होता, किन्तु

अनादिकालीन प्रवाह में वह शरीर पर्यायात्मक एक कड़ी और जुड़ जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं आता। जैसे कहा भी है—"तस्य चानादि कर्म-सम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरूध्यते [६३]।" संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बन्धा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप में स्थित नहीं, अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म (अचेतन द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं होती।

आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिकों ने ९२ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान् हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यों पर ही किये हैं अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किये जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किये गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान [Biology] के प्रसिद्ध विद्वान् "पावलोफ" ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया [६४]। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएँ स्तब्ध हो गईं। वह अपने मालिक और खाद्य तक को नहीं पहचान पाता। फिर भी वह मरा नहीं। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता। इस पर हमें अधिक टीका टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित भी नहीं रह पाता। खाद्य का स्वीकरण, रक्तसंचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। वह केवल मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है।

वनस्पति भी आत्मा है। उनमें चेतना है; हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तियां हैं। पर उनके दिमाग नहीं होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिले या न मिले। वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं। उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए वह अपना कष्ट कह नहीं सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा? विकास-शील प्राणी मूक होने पर भी अङ्ग-सञ्चालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं। जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी तरह भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अङ्ग-सञ्चालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओं के हैं। स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। इससे क्या उनकी चेतनता और सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है। स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है कि—जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोग-ग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवापुरुष तलवार एवं खड्ग् से ३२-३२ बार छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को उन पर प्रहार करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते। और मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही ठहरा। इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। खैर। जो कुछ हो, इस विषय पर हमें इतना सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी अचेतन सत्ता है, वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। आज से ढाई हजार वर्ष पहिले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए। किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा। आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत

यदि वे चेतना के आनुमानिक एवं स्वसंवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलतासे सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करने वाले दार्शनिक चेतन तत्त्व को अनादि-अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो—निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति-स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड्' की धारणा भी यही हैं कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धाराएँ हैं—वैज्ञानिक "लुई पास्तुर" और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेमिन-स्काया, अणुवैज्ञानिक डा० हेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टेनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालों को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?' यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि जीव किन अवस्थाओं में, कब और कैसे उत्पन्न हुआ ? यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पास्तुर और हिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। वह परीक्षण यूं है······।

···एक कांच के गोले में उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नहीं होती, उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख

देने पर कुछ दिनों में ही उसमें कीड़े, मकोड़े या क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा में बहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।

स्टैनले मिलर ने डा० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितियां थीं, वे ही उत्पन्न कर दीं। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमें तीन प्रकार के प्रोटीन मिले परन्तु एक भी प्रोटीन जीवित नहीं मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी—पानी है। परन्तु उसका तापमान थोड़ा बढ़ा दिया जाए तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचने के बाद वह भाप बन जाता है। (ताप के इस बिन्दु पर यह होता है, यह वायु-मण्डल के दबाव के साथ बदलता रहता है) यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ बन जाता है। जैसे भाप और बर्फ का पूर्व रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ के रूप में परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नहीं रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका? इसका कोई समाधान नहीं मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा। उसमें पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेंगे केवल उसकी गर्मी बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठण्डा कीजिए तो एक हदतक वह पानी ही बना रहता है। लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण बिन्दु पर पहुँचते ही पानी के गुण एक दम बदल जाते हैं। पानी, पानी नहीं रहता बल्कि भाप या बर्फ बन जाता है।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर पानी भाप या बर्फ बनता है वैसे भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहाँ पहुंचकर भौतिकता चेतना के रूप में परिवर्तित होती है। मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन-कार्बन, फॉसफौरस आदि-आदि। इनमें से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वों की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है—इसका कोई ज्ञान अभी तक नहीं

हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से पैदा होती है या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तव तक वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं वन सकता, जव तक भौतिकता के उस चरम-विन्दु की, जहाँ पहुँच कर यह चेतना के रूप में परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञान विषय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है—वह आत्मा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय विगड़ जाने पर जो पूर्व ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण मस्तिष्क है। आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तव तक स्मृति है। उसके विगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है।" उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रियां वाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान-विपयक चिन्तन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती। फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल—अधूरी हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती हैं। वे यह वताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर में अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी अस्वीकार नहीं करते। "तन्दुल-वेयालिय" के अनुसार इस शरीर में १६० ऊर्ध्व गामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुँचती हैं। वे स्वस्थ होती

हैं, तब तक आँख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है[६५]। भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है।

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां, शिरस्तदभिधीयते ॥ [चरक]

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं है

कृत्रिम मस्तिष्क, जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नहीं है। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव-मस्तिष्क से तुलना नहीं की जा सकती। वास्तव में ये मानव-मस्तिष्क की भाँति सक्रिय और बुद्धियुक्त नहीं होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करनेवाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ में यह मानव-मस्तिष्क का एक शतांश भी नहीं। मानव-मस्तिष्क चार भागों में बंटा हुआ है—

१—दीर्घ-मस्तिष्क—जो संवेदना, विचार-शक्ति और स्मरण-शक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

२—लघु-मस्तिष्क।

३—सेत।

४—सुषुम्ना।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का क्षुद्रतम अंश है।

यांत्रिक-मस्तिष्क का गणन-यंत्र लगभग मोटर में लगे मीटर की तरह होता है, जिसमें मोटर के चलने की दूरी मीलों में अंकित होती चलती है। इस गणन-यंत्र का कार्य एक और शून्य अंक को जोड़ना अथवा एकत्र करना है। यदि गणन-यंत्र से इन अंकों को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड़-घटाव की दो क्रियाओं पर ही सारा गणित आधारित है।

प्रदेश और जीवकोष दो हैं

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते। परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदय का नाम जीव है। वह असंख्य जीवकोषों का पिण्ड नहीं है। वैज्ञानिक असंख्य सेल्स [Cells]-जीवकोषों के द्वारा प्राणी शरीर और चेतना का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक ही सीमित हैं। शरीर अस्थायी है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है। और वह रूपी है, इसलिए उसके अङ्गोपाङ्ग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है[६६]। वह उत्पन्न नहीं होता। और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता। अतएव जीव कोषों द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नहीं हैं। वे स्वयं आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमें संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कन्धों में मिलते हैं। अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण-लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाणवाली है[६७]। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नहीं बनता। परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता। एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता। असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता से साध्य का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र

द्रव्य है। हाँ, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। फिर भी आत्म-अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आँख घट, पट आदि को देख सकती है। पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक [अभौतिक] पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा को न जान सकना नहीं कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़ सी आजाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह सन्देह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसीलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि-सन्देह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियों के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—

'चैतन्यलिङ्गोपलब्धेस्तद्ग्रहणम्[१८]।' धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है, इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का तथा आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उनके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतना भूत समुदय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता क्योंकि भूत जड़ है। 'तयोरत्यन्ताभावात्'—भूत और चेतना में अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी

होगा[६१]। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उप-जना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्ति-संगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलने वाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतंत्र द्रव्य होता है। सामान्यगुण जो कई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ—क्रियाकारित्व और सत् दोनों घटित होते हैं। पदार्थ वही है, जोप्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है, जो सत् हो यानि पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा में रूप आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या? यह निराधार शंका है। क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त

होने पर कुछ भी नहीं है। पांच भूतों से प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है[७०]। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं[७१]। पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है[७२]।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव में ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं[७३]। उसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एक मत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—"क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं[७४]। गीता कहती है—"जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहिनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद, नए शरीर को धारण करते हैं[७५]। यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है[७६]। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पूर्वजन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया[७७]।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है[७८]। नव-शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म में किए हुए आहार के अभ्यास से ही होता है[७९]। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा—देही है[८०]।

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःख पूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव-शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व-अनुभव युक्त है। जीवन

का मोह और मृत्यु का भय। पूर्व-बद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्व-जन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियां नहीं मिलतीं। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

प्राचीन दार्शनिक प्लेटो [Plato] ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक जैसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी[८१]।"

नवीन दार्शनिक 'शोपनहोर' के शब्दों में पुनर्जन्म निसंदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्टरूपेण प्रतीत हो जाता है[८२]।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं। जैसे—यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ तो स्मृतियां होतीं? यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते?

पहली शंका का हम अपने बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियाँ हमें स्मरण नहीं आतीं तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी? एक दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होतीं, तो भी अपने बचपन में किसी को सन्देह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं। पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति' [पूर्वजन्म-स्मरण] हो जाती है, वह अनेक जन्मों के घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शङ्का एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता—उसके दो कारण हैं—एक तो वह अमूर्त्त है—रूप रहित है। इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता। "नाऽभावोऽनीक्षणादपि"—नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे उसका अभाव थोड़ा ही माना जा सकता है।

अन्धकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहाँ कुछ भी नहीं है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता। अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनियां में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त-असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। यहाँ "असओणत्थि भावो, सओणत्थि निसे हो"—या—"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः"। ये पंक्तियां बड़ी उपयुक्त हैं। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता है तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? यह परिवर्तन है—प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है। किन्तु न तो सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। अच्छा होगा कि उक्त सूत्र को एक बार फिर दोहराया जाए—यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता [अत्यन्त हाँ] से असत्ता [अत्यन्त नहीं] एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एक रूप से रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की शृङ्खला जुड़ती है। शरीर-शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं—सब अवयव नए बन जाते हैं। इस सर्वाङ्गीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है[८३]। अन्तर-काल में

स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है। ऋजु और वक्र। मृत्युस्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीर जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म स्थान में पहुंच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही-पूर्व-देह जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर-कार्मण शरीर द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्—यों तीन भागों में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस नाड़ी और स्थावर नाड़ी, इस प्रकार दो भागों में विभक्त है।

द्विसामयिक गति—

ऊर्ध्व लोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की गति एक वक्राद्विसामयिकी होती है। पहिले समय में समश्रेणी में गमन करता हुआ जीव अधोलोक में जाता है और दूसरे समय में तिर्यग्वर्ती अपने-अपने उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुँच जाता है।

त्रि सामयिक गति—

ऊर्ध्व दिशावर्त्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्त्ती वायव्य कोण में उत्पन्न होने वाले जीव की गति द्विवक्रात्रिसामयिकी होती है। पहिले समय में जीव सम-श्रेणी गति से नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछा चल पश्चिम दिशा में और तीसरे समय में तिरछा चलकर वायव्य कोण में अपने जन्मस्थान पर पहुँच जाता है।

स्थावर-नाड़ी गत अधोलोक की विदशा के इस पार से उस पार की स्थावर-नाड़ी गत ऊर्ध्व लोक की दिशा में पैदा होने वाले जीव की 'त्रि-वक्रा-

चतुः सामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्त्ती विदिशा से दिशा में पहुँचने में, दूसरा समय त्रस नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रसनाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचने में लगता है। आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती। किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है। तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय :—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रान्तिकाल है। उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसी रहती है। इस पर हमें कुछ विचार करना है। अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता। उसके अभाव में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियां भी नहीं होती। वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे। कम से कम एक इन्द्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है। जिसमें यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्रकारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

"भगवन्! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय[८४]? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।"

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है—किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र की रचना होती है।

दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव-स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, वल, वीर्य, पुरुषकार—पराक्रम से होती है [८५]। उत्थान आदि शरीर-सम्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार वनता है :—

जीवप्रभव शरीर,

शरीरप्रभव वीर्य,

वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म) [८६]।

वीर्य दो प्रकार का होता है—(१) लब्धि वीर्य (२) करणवीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सव जीव सवीर्य होते हैं। करण वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है [८७]।

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं वनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियंत्रित नहीं किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संचय कर जीव भारी वन जाते हैं [८८]। इनकी विरक्ति करने वाला जीव कर्म-पुद्गलों का संचय नहीं करता, इसलिए वह भारी नहीं वनता [८९]।

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति में उत्पन्न होता है [९०] और हल्का ऊर्ध्वगति में [९१]। गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति में जावेगा। कर्म-पुद्गलों को उसे कहाँ ले जाना है—यह ज्ञान नहीं होता। किन्तु पर भव योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलो

का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानि वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते[१२]। वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते हैं, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते हैं[१३]। उन पुद्गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया [रस-बंध या अनुभाव बन्ध] के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनरावर्तन एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

संसार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग, द्वेष हैं। जीव की असंयममय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नहीं, यह दूसरी बात है। जीव को फंसाने वाला दूसरा कोई नहीं। जीव भी कर्मजाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वाञ्छा से रच लेता है। कर्म व्यक्तिरूप से अनादि नहीं है, प्रवाहरूप से अनादि है। कर्म का प्रवाह कब से चला, इसकी आदि नहीं है। जब से जीव तब से कर्म है। दोनों अनादि हैं। अनादि का प्रारम्भ न होता है और न बताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है[1]। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्म संयम से नए कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं। नए कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधकों की है। आत्म-साधना से विमुख रहने वाले नए-नए कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह में बहना पड़ता है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर तैजस परमाणुओं से बना हुआ विद्युतशरीर है। इससे स्थूल शरीर में सक्रियता, पाचन, दीप्ति और तेज बना रहता है। कार्मण शरीर सुख-दुःख के निमित्त बनने वाले कर्म-अणुओं के समूह से बनता है। यही शेष सब शरीरों का, जन्म-मरण की परम्परा का मूल कारण होता है। इससे छुटकारा पाए बिना जीव अपनी असली दशा में नहीं पहुंच पाता।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे में छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ'-हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे

उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के वाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है। वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनों के बारे में विवाद है, गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनों तक चलता है। इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के प्रारम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसीलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पड़ा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि-रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है। जन्म की प्रणाली सव प्राणियों की एक नहीं है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न ढङ्ग से जन्म लेते हैं। एक वच्चा मां के पेट में जन्म लेता है और पौधा मिट्टी में। वच्चे की जन्म-प्रक्रिया पौधे की जन्म-प्रक्रिया से भिन्न है। वच्चा स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। पौधा वीज से पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया-भेद के आधार पर जैन-आगम जन्म के दो विभाग करते हैं—गर्भ और सम्मूर्छन। स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले जन्म को गर्भ और उनके संयोग-निरपेक्ष जन्म को सम्मूर्छन कहा जाता है। साधारणतया उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के लिए गर्भ शब्द का प्रयोग सव जीवों के लिए होता है। स्थानांग में वादलों के गर्भ वतलाए हैं[२]। किन्तु जन्म-भेद की प्रक्रिया के प्रसंग में 'गर्भ' का उक्त विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। चैतन्य-विकास की दृष्टि से भी 'गर्भ' को विशेष अर्थ में रूढ करना आवश्यक है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और माता-पिता के संयोग-निपेक्ष जन्म वाले प्राणी वर्गों में मानसिक-विकास नहीं होता। माता-पिता के संयोग से जन्म-पाने वाले जीवों में मानसिक-विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ' और समनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य विकास का सिद्धान्त स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

गर्भज जीवों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च (जलचर—मछली आदि, स्थलचर—वैल आदि, खेचर—कबूतर आदि, उरपरिसृप—सांप आदि भुजपरि

रूप—चेवला आदि) ये दो वर्ग हैं। मनुष्य गर्भज ही होते हैं[3]। तिर्यञ्च गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्छनज भी।

मानुषी गर्भ के चार विकल्प हैं—स्त्री, पुरुष, नपुंसक और विम्ब[4]। ओज की मात्रा अधिक वीर्य की मात्रा अल्प तब स्त्री होती है। ओज अल्प और वीर्य अधिक तब पुरुष होता है। दोनों के तुल्य होने पर नपुंसक होता है। वायु के दोष से ओज गर्भाशय में स्थिर हो जाता है, उसका नाम 'विम्ब' है[5]। वह गर्भ नहीं, किन्तु गर्भ का आकार होता है। वह आर्त्तव की निर्जीव परिणति होती है। ये निर्जीव विम्ब जैसे मनुष्य जाति में होते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी जाति में भी होते हैं। निर्जीव अण्डे, जो आजकल प्रचुर मात्रा में पैदा किये जाते हैं, की यही प्रक्रिया हो सकती है।

गर्भाधान की कृत्रिम-पद्धति

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का संयोग है। कृत्रिम रीति से भी गर्भाधान हो सकता है। 'स्थानांग' में उसके पांच कारण वतलाए हैं[6]। उन सब का सार कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप है। गर्भाधान के लिए मुख्य शर्त वीर्य और आर्त्तव के संयोग की है। उसकी विधि स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार की हो सकती है।

गर्भ की स्थिति

तिर्यञ्च की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष की है[7]। मनुष्य की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट वारह वर्ष की है[8]। काय-भवस्थ की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौवीस वर्ष की है[9]। गर्भ में वारह वर्ष विता मर जाता है और वहीं फिर जन्म ले और वारह वर्ष वहाँ रहता है—इस प्रकार काय-भवस्थ अधिक से अधिक चौवीस वर्ष तक गर्भ में रह जाता है[10]।

योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट वारह मुहूर्त्त की होती है।

गर्भ संख्या

एक स्त्री के गर्भ में एक-दो यावत् नौ लाख तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु वे सब निष्पन्न नहीं होते। अधिकांश निष्पन्न हुए विना ही मर जाते हैं[11]।

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्। जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय ?

भगवान् बोले—गौतम ! स इन्द्रिय भी होता है और अन्-इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य-इन्द्रिय की अपेक्षा वह अन्-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय[१२]।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) की अपेक्षा अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा स-शरीर होता है[१३]।

गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मां के आहार का ही सार-अंश होता है। उसके कवल-आहार नहीं होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास निःश्वास भी सर्वात्मना होते हैं। उसके आहार, परिणमन, उच्छ्वास-निःश्वास बार बार होते हैं[१४]।

बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ में रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भ-गत जीव में वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बना उससे लड़ता है। उसमें अर्थ, राज्य, भोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है। उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है[१५]।

एक तीसरे प्रकार का जन्म है। उसका नाम है—उपपात। स्वर्ग और नरक में उत्पन्न होने वाले जीव उपपात जन्म वाले होते हैं। वे निश्चित जन्म-कक्षों में उत्पन्न होते हैं और अन्तर्-मुहूर्त्त में युवा बन जाते हैं।

जन्म के प्रारम्भ में

तीन प्रकार से पैदा होने वाले प्राणी अपने जन्म स्थानों में आते ही सबसे पहले आहार लेते हैं[१६]। वे स्व—प्रायोग्य पुद्गलों का आकर्षण और संग्रह

करते हैं। सम्मूर्च्छनज प्राणी उत्पत्ति-क्षेत्र के पुद्गलों का आहार करते हैं। गर्भज प्राणी का प्रथम आहार रज-वीर्य के अणुओं का होता है। देवता अपने-अपने स्थान के पुद्गलों का संग्रह करते हैं। इसके अनन्तर ही उत्पन्न प्राणी पौद्गलिक शक्तियों का क्रमिक निर्माण करते हैं। वे छह हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। कम से कम चार पर्याप्तियां प्रत्येक प्राणी में होती हैं।

जन्म

१—लोगस्सय सासयं भावं, संसारस्सय अणादिभावं, जीवस्सय णि च भावं, कम्म बहुत्तं, जम्मणमरण बाहुल्लं, च पडु च नत्थि केइ परमाणुपोग्गल मेत्ते वि पएसे जत्थणं अयं जीवे न जाए वा न। मएवावि से तेणट्ठेणं तं चेव जाव न मए वावि··· [—भग० १२।७]

२—असइं वा अणंतखुत्तो······ —भग०

३—न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं।
ण जाया ण मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो—

लोक शाश्वत है, संसार अनादि है, जीव नित्य है। कर्म की बहुलता है, जन्म-मृत्यु की बहुलता है, इसीलिए एक परमाणु मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहाँ जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नहीं, जहाँ जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों।

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवों का उत्पत्ति-क्रम एकसा नहीं होता। अनेक जातियां हैं, अनेक योनियां हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएं अनेक नहीं हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। जिनका उत्पत्ति स्थान नियत नहीं होता और जो गर्भ धारण नहीं करते, उन जीवों की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। कई चतुरिन्द्रिय तक के

सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। कई तिर्यञ्च—पञ्चेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानो में उत्पन्न होने वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्च्छनज होते हैं। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनके जन्म का नाम 'गर्भ' है। अण्डज, पोतज और जरायुज पञ्चेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात जन्मा होते हैं। नारकों के लिए कुम्भी (छोटे मुंह की कुण्डें) और देवता के लिए शय्याएँ नियत होती हैं। प्राणी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

प्राण और पर्याप्ति

आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएं प्राण और पर्याप्ति—इन दोनों के सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण, ये परस्पर सापेक्ष हैं। इससे हमें यह निश्चिय होता है कि प्राणियों की शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएं हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

प्राण-शक्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण शक्तियां दस हैं :—

(१) स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण।
(२) रसन　"　"
(३) घ्राण　"　"
(४) चक्षु　"　"
(५) श्रोत्र　"　"

(६) मन-प्राण
(७) वचन-प्राण
(८) काय-प्राण
(६) श्वासोच्छ्वास-प्राण
(१०) आयुष्य-प्राण

प्राण शक्तियां सब जीवों में समान नहीं होतीं। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय, इन जीवन-शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है। उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर्-मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण में ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सबों की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त्त से पहले नहीं होती। स्वयोग्य पर्याप्तियों की परि-समाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहाँ इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किए बिना कोई प्राणी नहीं मरता।

जीवों के १४ भेद और उनका आधार

जीवों के निम्नोक्त १४ भेद हैं :—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद — अपर्याप्त और पर्याप्त
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद — अपर्याप्त और पर्याप्त

पर्याप्त और अपर्याप्त की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद अब हमें यह देखना चाहिए कि जीवों के चौदह भेदों का मूल आधार क्या है? पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों जीवों की अवस्थाएँ हैं। जीवों को जो श्रेणियां की गई हैं उन्हीं के आधार पर ये चवदह भेद बनते हैं। इनमें एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय सूक्ष्म और बादर ऐसा भेद-करण और किसी का नहीं है। क्योंकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीन सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्म की कोटि में हम उन जीवों को परिगणित करते हैं, जो समूचे लोक में जमें हुए होते हैं, जिन्हें अग्नि जला नहीं सकती; तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नहीं सकते, जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, और जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जाते [१७]। प्राचीन शास्त्रों में "सर्व जीवमयं जगत्" इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है वह इन्हीं जीवों को ध्यान में रखकर हुई है। कई भारतीय दार्शनिक परम ब्रह्म को जगत् व्यापक मानते हैं कई आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं और जैन-दृष्टि के अनुसार इन सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक व्याप्त है। सबका तात्पर्य यही है कि चेतन-सत्ता लोक के सब भागों में है। कई कृमि, कीट, सूक्ष्म कहे जाते हैं किन्तु वस्तुतः वे बादर-स्थूल हैं। वे आंखों से देखे जा सकते हैं। साधारणतया न देखें जाएं तो सूक्ष्म दर्शक-यन्त्रों से देखे जा सकते हैं। अतएव उनमें सूक्ष्म जीवों की कोई श्रेणि नहीं। बादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता। हमें जो एकेन्द्रिय शरीर दीखते हैं, वे असंख्य जीवों के, असंख्य शरीरों के पिण्ड होते हैं। सचित्त मिट्टी का एक छोटा-सा रज-कण पानी की एक बून्द या अग्नि की एक चिनगारी [१८]— ये एक जीव के शरीर नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक में अपनी-अपनी जाति के असंख्य जीव होते हैं और उनके असंख्य शरीर पिण्डीभूत हुए रहते हैं। तथा उस दशा में दृष्टि के विषय भी बनते हैं। इसलिए वे बादर हैं। साधारण वनस्पति के एक, दो, तीन या चार जीवों का शरीर नहीं दीखता क्योंकि उनमें से एक-एक जीव में शरीर-निष्पादन की शक्ति नहीं होती। वे अनन्त जीव मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। इसलिए अनन्त जीवों के शरीर

स्थूल परिणतिमान होने के कारण दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म—अपर्याप्त और पर्याप्त, बादर-अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। इसके बाद चतुरिन्द्रिय तक के सब जीवों के दो-दो भेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के चार विभाग हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीवों की सूक्ष्म और बादर—ये दो प्रमुख श्रेणियां हैं, वैसे पंचेन्द्रियजीव समनस्क और अमनस्क—इन दो भागों में बंटे हुए हैं। चार-इन्द्रिय तक के सब जीव अमनस्क होते हैं। इसलिए मन की लब्धि या अनुपलब्धि के आधार पर उनका कोई विभाजन नहीं होता। सम्मूर्च्छनज पंचेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता। गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं। अतएव असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-अपर्याप्त और पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। संसार के प्राणी मात्र इन चौदह वर्गों में समा जाते हैं। इस वर्गीकरण से हमें जीवों के क्रमिक विकास का भी पता चलता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से दो इन्द्रिय वाले जीव, द्वीन्द्रिय से तीन इन्द्रिय वाले जीव—यों क्रमशः पूर्व श्रेणी के जीवों से उत्तर श्रेणी के जीव अधिक विकसित हैं।

इन्द्रिय ज्ञान और पांच जातियां

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसीलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आंख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नहीं होता। उसकी दर्शन-शक्ति कहीं नहीं जाती किन्तु आंख के अभाव में उसका उपयोग नहीं होता। आंख में विकार होता है, दीखना बन्द हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियों में सहायक इन्द्रियों के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नहीं होता। वनस्पति में रसन आदि पाँचों इन्द्रियों के चिह्न मिलते हैं[११]। उनमें भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इन्द्रिय का सद्भाव नहीं होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते हैं। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान चेतन-इन्द्रिय और जड़-इन्द्रिय दोनों के सहयोग से होता है। फिर भी जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है—उसमें चेतन-इन्द्रिय

की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय—ये पांच जातियां बनने में दोनों प्रकार की इन्द्रियां कारण हैं। फिर भी यहाँ द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है [२०]। एकेन्द्रिय में अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियों के अभाव में पञ्चेन्द्रिय नहीं कहलाते [२१]।

मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नहीं होता। इन्द्रिय ज्ञान से इसका स्थान ऊंचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। वह सब विषयों को ग्रहण करता है। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानस ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान में तर्क, वितर्क नहीं होता। मानस ज्ञान आलोचनात्मक होता है [२२]।

मानस प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नहीं होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस शक्ति का उपयोग नहीं होता। मानस ज्ञान गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय प्राणियों के ही होता है। इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागों में बंट जाते हैं—संज्ञी और असंज्ञी या समनस्क और अमनस्क। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट निवृत्ति, आहार भय आदि संज्ञाएँ, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि-चेष्टाएं होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असंज्ञी क्यों? बात सही है। इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्ट निवृत्ति का संज्ञान मानस ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी संज्ञी नहीं बनता। एक कौड़ी भी धन है पर उससे कोई धनी नहीं कहलाता। संज्ञी वही होते हैं—जिनमें दीर्घकालिकी संज्ञा मिले, जो भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञान-शृङ्खला को जोड़ सके [२३]।

इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे इन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का

क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी और संज्ञी के इन्द्रिय ज्ञान में कुछ तरतम रहता है या नहीं? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। एक किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी दोनों चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय ज्ञान में भी अपार तरतम होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात् यह ऐसा क्यों? इससे क्या लाभ? यह स्थायी है या अस्थायी? कैसे बना? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएं मन का कार्य है। असंज्ञी के ऐसी जिज्ञासाएं नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय ज्ञान में प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन-इन्द्रिय ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध-अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिन्तन स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनका ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्व जन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्व जन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं होती—इसकी कारण मीमांसा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

> "जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
> तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो" ॥

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती। एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्व-जन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्व जन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसीलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान [२४]।

अतीन्द्रियज्ञान-योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए इसे पौद्‌गलिक साधनों—शारीरिक अवयवों के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। वह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानों से सुनते हैं, आँखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य [निरपेक्ष सत्य] तक पहुँच नहीं होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य [सापेक्ष सत्य] होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठंडी होगी। जिसका तापमान हमारी उष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान [वृत्त, परिमंडल, त्र्यंस, चतुरंश] का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति में देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नहीं आता। इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

चार

अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएं हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त मानने वालों को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ, ये समस्याएं उन्हें सताती हैं—जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नहीं चाहिए। अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है [1]।

विश्वस्थिति के मूल सूत्र

विश्वस्थिति की आधारभूत दस बातें हैं[2]—

(१) पुनर्जन्म—जीव मरकर पुनरपि बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से। कर्म बांधते हैं।

(३) मोहनीय-कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

(४) जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) त्रस-स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।

(६) लोकालोक-पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) लोकालोक-अन्योन्याऽप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) लोक और जीवों का आधार-आधेय-सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव है और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रुखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये भी परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास। किन्तु जहाँ परिणामी-नित्यत्व की स्थिति है, वहाँ ये दोनों अवश्य होंगे। डार्विन के मतानुसार यह विश्व क्रमशः विकास की ओर बढ़ रहा है। जैन-दृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहाँ पहुँचने पर फिर ह्रास नहीं होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएं हैं, उनमें आठवीं (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुँचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनों चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाएं ये हैं :—

(१) अव्यवहार राशि······साधारण-वनस्पति

(२) व्यवहार राशि········प्रत्येक-वनस्पति

(क) एकेन्द्रिय······साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।

(ख) द्वीन्द्रिय·········

(ग) त्रीन्द्रिय········

(घ) चतुरिन्द्रिय······

(ङ) पंचेन्द्रिय···::···अमनस्क, समनस्क

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नहीं। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नहीं। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है।

दार्शनिकों का 'ध्येयवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा है। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतन्त्र है। ध्येय को उचित रीति से समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' यह सर्व सामान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेषसामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नई आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकता।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दोनों सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है [3]। शक्ति की दृष्टि से एक

पौद्गलिक स्कन्ध में अनन्त गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है और फिर वे बिखर कर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है। उसमें चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आन्तरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आन्तरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—(१) आत्म-जनित
(२) शरीर-जनित

आत्म-जनित आन्तरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पाँच हैं[४]। उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएं शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं[५]। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नहीं है।

विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आन्तरिक-स्थिति या आन्तरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धान्त बाहरीस्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितियां केवल आन्तरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करती। चेतन में योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

(१) अन्तरंग योग्यता और वहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
(२) अन्तरंग अयोग्यता और वहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

(३) अन्तरंग योग्यता और वहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
(४) अन्तरंग अयोग्यता और वहिरंग प्रतिकूलता—,, ,, ,, ,,

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएँ और जीवन-सुख की आकांक्षाएँ होती हैं [६]। तीन एषणायें भी होती हैं—

(१) प्राणैषणा—मैं जीवित रहूँ।

(२) पुत्तैषणा—मेरी सन्तति चले।

(३) वित्तैषणा—मैं धनी बनूं।

अर्थ और काम की इस आन्तरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रहार से प्राणी की वहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है। यह एक जीवन-गत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्भिद्-जगत् से भिन्न जातियां उसकी शाखाएं नहीं किन्तु स्वतन्त्र हैं। उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमें दोनों विचार एक रेखा पर हैं। किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति का। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता। आन्तरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणी-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी काय, अप् काय, तेजस् काय, वायु काय और वनस्पति काय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—(१) अण्डज (२) पोतज (३) जरायुज (४) रसज (५) संस्वेदज (६) सम्मूर्च्छिम, (७) उद्भिज और (८) उपपातज।

(१) अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जन्तु।

(२) पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, वगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है, ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊंट, घोड़ा, मृग, सिंह, रींछ, कुत्ता, बिल्ली आदि-आदि।

(४) रसज—मद्य आदि में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

(५) संस्वेदज—संस्वेद में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे जूं आदि।

(६) सम्मूर्च्छिम—किसी संयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए यत्र कुत्र जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चींटी, मक्खी आदि

(७) उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

(८) उपपातज—शैय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे...देवता, नारकी आदि।

उत्पत्ति-स्थान

..."सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा, णाणाविहवुक्कमा सरीर जोणिया सरीर संभवा सरीर वुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया, कम्मठीइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति।"　　　　—सूत्र० २।३।६२

..."सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं और वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते हैं। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी

उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि-कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं……।"

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके कुल एक करोड़ साढ़े सत्तानवें लाख (१,९७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर एक ही योनि है और उसमें कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

स्थान	उत्पत्ति	कुल
१—पृथ्वीकाय	७ लाख	१२ लाख
२—अप्काय	७ ,,	७ ,,
३—तेजस्काय	७ ,,	३ ,,
४—वायुकाय	७ ,,	७ ,,
५—वनस्पतिकाय	२४ लाख	२८ ,,
६—द्वीन्द्रिय	२ ,,	७ ,,
७—त्रीन्द्रिय	२	८ ,,
८—चतुरिन्द्रय	२ ,,	९ ,,
९—तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय	४ ,,	जलचर—१२॥ लाख
		खेचर—१२ ,,
		स्थलचर१० ,,
		उर-परिसर्प-१० ,,
		भुज-परिसर्प-९ ,,
१०—मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११—नार की	४ ,,	२५ ,,
१२—देव	,,४	२६ ,,

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असम्भव नहीं।

स्थावर-जगत्

उक्त प्राणी विभाग जन्म-प्रक्रिया की दृष्टि से है...गति की दृष्टि से प्राणी दो भागों में विभक्त होते हैं। (१) स्थावर और (२) त्रस। त्रस जीवों में गति, आगति, भाषा, इच्छाव्यक्तिकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—के पांचों स्थावर-काय सजीव हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, ये सब जीवशरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं। जिन पुद्गल-स्कन्धों को जीव अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पांच स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ में सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्म-रहित हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं। सिद्धान्त की भाषा में—

(१) पृथ्वी-मिट्टी...सचित्त—सजीव है।

(२) पानी......सचित्त हैं—तरलमात्र वस्तु सजीव होती है।

(३) अग्नि......सचित्त है—प्रकाश या ताप मात्र जीव संयोग से पैदा होता है।

(४) वायु......सचित्त है।

(५) वनस्पति...सचित्त है।

विरोधी शस्त्र या घातक पदार्थ द्वारा उपहत होने पर ये अचित्त-निर्जीव बन जाते हैं [७]। इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

(१) मनुष्य-शरीर में समान जातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में भी समान जातीय अंकुर पैदा होते हैं, इसलिए वह सजीव है।

(२) अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है, पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र-परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।

(३) जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला जीव संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होने वाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राण वायु का ग्रहण और विषवायु का उत्सर्ग रहता है, वैसे अग्नि में भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य, 'आतप' नाम कर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।

(४) वायु में व्यक्त-प्राणी की भांति अनियमित स्व-प्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल-पुद्गल स्कन्धों में अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वयं नहीं।

ये चार जीव-निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक बून्द, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य-शरीरों के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं, बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को ही देख सकते हैं।

(५) वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आये हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इसके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए हैं···बेतार की तरंगों (Wireless Waves) के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र बसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रुकावट आती है, और उन्हें

फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानवीन के बाद वताया कि धान्यादि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे से मस्त होते हैं और मरते हैं…अन्त में यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं [८]। वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है। जैन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है [९]।

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य शरीर जाति, (जन्म) धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है।जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक व वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर आहार करने वाला है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमनयुक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से कान्ति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अतः वनस्पति चेतना युक्त है।

वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएँ होती हैं। संज्ञा कहते हैं अनुभव को। दस संज्ञाओं के नाम निम्नोक्त हैं :—

आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, ओघ-संज्ञा, एवं लोक-संज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर वेल' अपने आसपास होने

वाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरुवक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित हो जाता है, इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताऐं अपने तन्तुओं से वृक्ष को वींट लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदंती' नाम की वेल मान से झरने लग जाती है। लताएँ अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। विल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धड़कनों के विना रस का प्रसार नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य-शरीर में उच्छ्वास से रक्त का प्रसार होता है और मृत-शरीर में उच्छ्वास नहीं होता, अतः रक्त का प्रसार भी नहीं होता, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास है। इत्यादि अनेकों युक्तियों से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—(१) साधारण (२) प्रत्येक। एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। वह साधारण-शरीरी, अनन्त काय या सूक्ष्म-निगोद हैं। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

संघीय जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस् और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि—"साधारण वनस्पति का एक

जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं [१०]।" उनके आहार-विहार, उछ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं [११]। साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यों के कृत्रिम संघों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक संघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्‌गलिक वस्तुएं ही करती हैं। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो-जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने से छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं।

सुई की नोक टिके उतने लक्ष्य पाक तेल में एक लाख औषधियों की अस्तित्ता होती है। सब औषधियों के परमाणु उसमें मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान में देखिए—

रसायन-शास्त्र के पण्डित कहते हैं कि आल्पीन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।

साधारण वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे [१२]। इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक में समा रहे हैं।

प्रत्येक वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने

शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्र, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव संघातरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक रूप बन जाते हैं[१३]। तब भी उसकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक वनस्पति के शरीरों की भी यही बात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है।

प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण

साधारण वनस्पति जीवों की भांति प्रत्येक वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक अंक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाए। यह लोक असंख्य आकाश प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक शरीरी वनस्पति जीव हैं[१४]। *

क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धान्त चार मान्यताओं पर आधारित है—

(१) पितृ-नियम—समान में से समान संतति की उत्पत्ति।

(२) परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा में सदा परिवर्तन होता है, उसके विरुद्ध नहीं होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नहीं होती।

(३) अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-संग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहाँ परस्पर संघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लड़ाई है।

(४) योग्य विजय—अस्तित्व की लड़ाई में जो योग्य होता है विजय उसी के हाथ में आती है। स्वाभाविक चुनाव में योग्य को ही अवसर मिलता है।

प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण यों भी हो सकता है :—

(१) स्वतः परिवर्तन।

(२) वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढी में परिवर्तन।

(३) जीवन-संघर्ष में योग्यतम अवशेष।

---

* इसका पूरा विवरण यन्त्र-पृष्ठ में देखिए।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं। वही गुण वंशानुक्रम से पीढी-दरपीढ़ी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घ काल में सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अंग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित में संचित होते हैं। शुक्र और शोणित से सन्तान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपार्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं।

इसमें सत्यांश है, किन्तु वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं। एक सन्तति में स्वतः बुद्धिगम्य कारणों के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पड़ता है, जीवन-संग्राम में योग्यतम विजयी होता है, यह सच है किन्तु यह उससे अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समान जातीय होता है, विजातीय नहीं। द्रव्य की सत्ता का अति-क्रम नहीं होता, मौलिक गुणों का नाश नहीं होता।

विकास या नई जाति उत्पन्न होने का अर्थ है कि स्थितियों में परिवर्तन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च पशु, पक्षी या जल-जन्तु आदि से मनुष्य जाति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्राणियों की मौलिक जातियां ५ हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतन्त्र हैं। पांच जातियां योग्यता की दृष्टि से क्रमशः विकसित हैं। किन्तु पूर्व योग्यता से उत्तर योग्यता सृष्ट या विकसित हुई ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, यह गर्भज-प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नहीं, किन्तु जाति-विपर्यास मानता है। उसके अनुसार इस विश्व में कुछ-न-कुछ विशुद्ध से तप्त पदार्थ ही चारों ओर भरे पड़े थे। जिनकी गति और उष्णता में क्रमशः कमी होते हुए बाद में उनमें से सर्व ग्रहों और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई, इसी प्रकार जैसे-जैसे

हमारी यह पृथ्वी ठंढी होने लगी, वैसे-वैसे इस पर वायु जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके बाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकास-क्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बन्दर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस विलम्बित "क्रम-विकास- प्रसर्पणवाद" को विख्यात प्राणी तत्त्ववेत्ता "डी० व्राइस" ने सान्ध्य—प्रिमरोज (इस पेड़ का थोड़ा सा चारा हालैण्ड से लाया जाकर अन्य देशों की मिट्टी में लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नई श्रेणियों का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहरा कर 'प्लुत सञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नहीं।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुकवाद) है। यह विश्व कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ? इसका आनुमानिक कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता...डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धान्त स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन में वर्ण-भेद, संहनन-भेद[१५], संस्थान-भेद, लम्बाई-चौड़ाई का तारतम्य, ऐसे ऐसे और भी सूक्ष्म-स्थूल भेद हो सकते हैं[१६]। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के बिना भी हो सकते हैं और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। १७९१ ई० में भेड़ों के झुण्ड में अकस्मात् एक नई जाति उत्पन्न हो गई। उन्हें आजकल "अनेकन" भेड़ कहा जाता है। यह जाति, मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा तदा, यत् किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित नए उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति में अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओं की बहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुल-कोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति में भेद—बाहुल्य होता है...उन अवान्तर भेदों के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नहीं होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने में समर्थ नहीं होती। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह उसी जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर

सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्वार्जित कर्म-पुद्गलो की प्रेरणा से जिस जाति में जन्म लेता है, उसी(जाति) के आधार पर उसके शरीर, संहनन, संस्थान ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

वाहरी स्थितियों का प्राणियों पर प्रभाव होता है। किन्तु उनकी आनुवंशिकता में वे परिवर्तन नहीं ला सकतीं। प्रो० डार्लिंगटन के अनुसार—"जीवों की वाहरी परिस्थितियां प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नहीं करतीं। इससे यह सावित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतों में जो समानान्तरता पाई थी, वह वहुत स्थायी और दूरगामी नहीं थी। विभिन्न स्वाभावों वाले मानव-प्राणियो के शरीर में वाह्य और आन्तरिक भौतिक प्रभेद मौजूद होते हैं। उसके भीतर के भौतिक प्रभेद के आधार को ही आनुवंशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आन्तरिक प्रभेद के आधारों का भेद ही व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के भेदों का कारण होता है। ये सव भेद वाहरी अवयवों में होने वाले परिवर्तनों का ही परिणाम हैं। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओं के सिवाय कोई वाहरी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आनुवंशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यों न हो, सुधार या उन्नत करना कठिन है।

अनुवंशिकता के प्रभाव को इस नए आविष्कार के वाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया [१७]।

हमें दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र-विन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं, जो गर्भाधान के विना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियां हैं—

(१) तिर्यञ्च (२) मनुष्य। (मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि स्थान में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं [१८])

तिर्यञ्च जाति की मुख्य दशाएं तीन हैं :—

(१) जलचर—मत्स्य आदि।

(२) स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसृप—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।

(ख) भुजपरिसृप—भुजा के बल पर चलने वाले प्राणी—नेवला आदि इसीकी उपशाखाएं हैं।

(३) खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छिम जीवों का जाति-विभाग गर्भ-व्युत्क्रान्त जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संवद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृक्ष की लगभग २ हजार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी में बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्त्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोगसिद्ध नहीं हैं। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा अधिक मूल्यवान् नहीं बन सकती।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके बदलने पर ह्रास या पूर्व गति भी होती है।

इस दिशा में सब से आश्चर्यजनक प्रयोग हैं—म्यूनिख की जन्तुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंज हेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाड़ी ही आगे से पीछे

की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोड़े पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व होते थे! प्रागैतिहासिक युग के इन घोड़ों को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं [१९]।

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। उससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नई जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जातिभेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं [२०]। आकृति-भेद की समस्या जाति भेद में मौलिक नहीं है।

प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का, ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके जो निमित्त हैं उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें—शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयुक्त एक रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है, सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को।

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का संगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का।

(१) आनुवंशिक समानता का कारण है वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाएं मातृ-पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा) ये तीन अंग माता के और हाड़, मज्जा और केश-दाढ़ी-रोम-नख—ये तीन अंग पिता के होते हैं[२१]। वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आन्तरिक योग्यता समान नहीं होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती हैं। यही कारण है कि माता-पिता के गुण दोषों का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता हैं, उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता।

(२) वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल-पुद्गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण की वर्गणाएं होती हैं, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल। आत्मिक शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमें अपवाद भी हो सकता है। मानसिक शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती हैं। कहा भी है—

"चित्तायत्तं धातुवद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्" ॥

—यह धातु-बद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाएं शरीर पर भी बुरा असर नहीं डाल सकतीं। गांधीजी भी कहते थे—'विकारी मन ही रोग का केन्द्र बनता है, यह भी सर्वथा निरपवाद नहीं है।

(३) खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न-भिन्न वर्गणाएं हैं। वर्गणाओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नहीं

किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएं हैं। अलग-अलग परिस्थिति में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय-मन-भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृत्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाएं आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़ नहीं सकतीं, और न बढ़ा-घटा भी सकतीं। किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं। यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है।

(४) ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियां निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य-रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं। संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है। असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की और योग-विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चंचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसीलिए आत्म-विकास में मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट-चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाएं गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएँ अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएं समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है। और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

पाँच

वेदना
काल-निर्णय
निर्जरा
आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के अधीन
कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया
अनादि का अन्त कैसे ?
लेश्या
कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली
आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं।
क्षयोपशम

कर्म

"मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानैकविधेक्ष्यते ।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत्, योग्यता विविधा न किम् ॥"

—तत्त्वार्थ-श्लोक वार्तिक-१६१

"आत्मा तदन्यसंयोगात्, संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च, तत् स्वाभाव्यात्तयो स्तथा ॥" —योगबिन्दु

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति,[1] विचित्रता[2] और साधन तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है[3]। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या,' बौद्ध 'वासना' सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं[4]। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है[5]। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है[6]। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है। जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बन्धने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं…बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार

प्रकार, उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक दूसरे के रूप में बदलना, आदि आदि अवस्थाएं जैनों के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं।

बन्ध के कारण क्या हैं? बन्धे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बन्धते हैं, उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने खूब विस्तृत विवेचन किया है। इन सबको लिया जाए तो दूसरा ग्रन्थ बन जाए। इसीलिए यहाँ इन सब प्रसंगों में न जाकर कुछ विशेष बातों की ही चर्चा करना उपयुक्त होगा।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

पदार्थ के असंयुक्त रूप में शक्ति का तारतम्य नहीं होता। दूसरे पदार्थ से संयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रगट हो जाती है। संयोग-दशा में यह ह्रास-विकास का क्रम चलता ही रहता है। असंयोग-दशा में पदार्थ का सहज रूप प्रगट हो जाता है, फिर उसमें ह्रास या विकास कुछ भी नहीं होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (असंयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है, शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है; कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ट सम्बन्ध कर्म पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघटना तक ही है। उससे कर्म संघटना प्रभावित होती है फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

वाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल से ही सब कुछ होता है, यह एकान्त दृष्टि मिथ्या है।
क्षेत्र ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
स्वभाव से ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
पुरुषार्थ से ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
नियति ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
कर्म ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

काल से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष-दृष्टि सत्य है।
क्षेत्र (स्थान) से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है।
स्वभाव से भी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
पुरुषार्थ से भी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
नियति ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
कर्म ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

वर्तमान के जैन मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है।

परिस्थितिवाद के एकान्त-आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियां हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है, तब विभाव-रूप होता है। दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है—गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बन्धता है, सुरापान से पागल बनता है, क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बन्धन एवं अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त्त है और पुद्गल मूर्त्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियां मूर्त्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख मूर्त्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त्त हैं [७]।

मूर्त्त ही मूर्त्त को स्पर्श करता है। मूर्त्त ही मूर्त्त से बंधता है। अमूर्त्त जीव मूर्त्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है [८]।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म-शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण-प्रदेशबन्ध-जीव और कर्म-परमाणुओं का एकी भाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या मल और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या रज कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव कर्म तीव्र होता है [९]।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

आत्मा अमूर्त्त है, तब उसका मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त्त होते हुए भी वे संसार दशा में मूर्त्त होती हैं [१०]। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी [११]। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्ममुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा

के ही कर्म बन्धते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आरहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

बन्ध के हेतु[१२]

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है।

गौतम ने पूछा[१३]—भगवन्! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान्—गौतम! बांधता है।

गौतम—भगवन्! वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो हेतु हैं (१) प्रमाद, (२) योग।

गौतम—भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—योग से।

गौतम—योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का बन्ध करता है। स्थानांग[१४] और प्रज्ञापना में कर्मबन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण बतलाए हैं[१५]।

बन्ध

"णत्थि बन्धे व मोक्खे वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥ —सूत्र० २।५

माकंदिक-पुत्र ने पूछा—"भगवन्! भाव बन्ध कितनी प्रकार का है?"

भगवान् ने कहा—"माकंदिक-पुत्र ! भाव-बन्ध दो प्रकार का है:—(१) मूल प्रकृति-बन्ध (२) उत्तर-प्रकृति-बन्ध [16]।"

बन्ध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतुरूप है:—(१) प्रकृति (२) स्थिति (३) अनुभाग (४) प्रदेश [17]।

बन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण [18]। ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बन्ध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

इसके साथ-साथ वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बन्ध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय [19]।

संक्षिप्त-विभाग :—

(१) ज्ञानावरण	(क) देशज्ञानावरण	(ख) सर्वज्ञानावरण
(२) दर्शनावरण	(क) देश दर्शनावरण	(ख) सर्व दर्शनावरण
(३) वेदनीय	(क) सात-वेदनीय	(ख) असात-वेदनीय
(४) मोहनीय	(क) दर्शन-मोहनीय	(ख) चारित्र-मोहनीय
(५) आयुष्य	(क) अद्धायु	(ख) भवायु
(६) नाम	(क) शुभ-नाम	(ख) अशुभ-नाम
(७) गोत्र	(क) उच्च-गोत्र	(ख) नीच-गोत्र
(८) अन्तराय	(क) प्रत्युत्पन्न-विनाशी	(ख) पिहित आगामीपथ [20]

विस्तृत-विभाग :—

१—*ज्ञानावरण*—ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म पुद्गल।

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(२) श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(३) अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त द्रव्य-पुद्गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(४) मनः पर्याय-ज्ञानावरण—दूसरों के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(५) केवल ज्ञानावरण—सर्व द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

२—दर्शनावरण—सामान्य बोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) चक्षु दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(२) अचक्षु दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(३) अवधि-दर्शनावरण—मूर्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(४) केवल-दर्शनावरण—सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(५) निद्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)

(६) निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)

(७) प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नींद आये।

(८) प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नींद आए।

(९) स्त्यानर्धि—(स्त्यान-गृद्धि) संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले, वैसी प्रगाढतम नींद।

३—वेदनीय—अनुभूति के निमित्त कर्म-पुद्गल :—

(१) सात वेदनीय-सुखानुभूति का निमित्त—

(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस,

(ङ) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काम।

(२) असात वेदनीय—दुःखानुभूति के निमित्त कर्म पुद्गल।

(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दुःखित मन, (छ) दुःखित वाणी, (ज) दुःखित काय।

४—मोहनीय—आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्गल।

(क) दर्शन-मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

(२) मिथ्यात्व वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

(३) मिश्र वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) कषाय-वेदनीय—राग द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा (स्थिरतम)

,, मान—पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)

अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ (वक्रतम)

,, लोभ—कृमि-रेशम (गाढ़तम रंग)

अप्रत्याख्यान क्रोध—मिट्टी की रेखा

,, मान—हाड़ का खम्भा

,, माया—मेंढ़े का सींग

,, लोभ—कीचड़

संज्वलन क्रोध—जल-रेखा (अस्थिर-तात्कालिक)

,, मान—लता का खम्भा (लचीला)

,, माया—छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)

,, लोभ—हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला (रंग)

(२) नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

१—हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हंसी-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल ।

२—रति—सकारण या अकारण पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति राग-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल ।

३—अरति—सकारण या अकारण पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष-उत्पन्न करने वाले या संयम में अरुचि-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल ।

४—शोक—सकारण या अकारण शोक-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल ।

५—भय—सकारण या अकारण भय-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल ।

६—जुगुप्सा—सकारण या अकारण घृणा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल ।

७—स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल ।

८—पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल ।

९—नपुंसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल ।

५—आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(१) नरकायु—नरक-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल ।

(२) तिर्यञ्चायु—तिर्यंच-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल ।

(३) मनुष्यायु—मनुष्य-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल ।

(४) देवायु—देव-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल ।

६—नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल

(१) गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्‌गल ।

(क) निरय गति-नाम—नारक जीवन दुःखमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(ख) तिर्यंच गति नाम—पशु, पक्षी आदि के जीवन (दुःख-बहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति-नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दुःख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति-नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(२) जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा—इन दो इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन जिह्वा और नाक—इन तीन इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, और चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पंचेन्द्रिय जाति नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक चक्षु और कान—इन पांच इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(३) शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के लिए निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले कामरूपी शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस्-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् व शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कम।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म ग्रन्थ में शरीर-बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक बन्धन नाम।
(२) औदारिक तैजस् ,, ,,
(३) ,, कार्मण ,, ,,
(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,
(५) ,, तैजस ,, ,,
(६) ,, कार्मण ,, ,,
(७) आहारक आहारक ,, ,,
(८) ,, तैजस ,, ,,
(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७—सहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुदगल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-सहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध—दोनों और आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हों, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हो वैसी आकृति, बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हों, उन पर तीसरी हड्डी

का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्र-ऋषभ नाराच संहनन' है।

(ख) ऋषभनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, "ऋषभनाराच-संहनन" में हड्डियों की आंटी और वेष्टन होता है, कील नहीं होती। यह दृढ़तर है।

(ग) नाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-संहनन' में केवल हड्डियों की आंटी होती है, वेष्टन और कील नहीं होती।

(घ) अर्धनाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्धनाराच संहनन' में हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

(ङ) कीलिका—संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका संहनन, में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई होती हैं।

(च) सेवार्त-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त संहनन' में केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई होती हैं।

८—संस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुद्गल।

(१) समचतुरस्र-संस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मार कर बैठे हुये व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं। वह 'सम चतुरस्र संस्थान' है।

(२) न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान' है।

(३) सादि-संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म–पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाण-हीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह सादि–संस्थान' है।

(४) वामन संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म–पुद्गल। 'वामन-संस्थान'—बौना।

(५) कुब्ज संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म–पुद्गल। 'कुब्ज संस्थान'—कुबड़ा।

(६) हुंड-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। सब अवयव बेढ़ब या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुंड-संस्थान है।

६—वर्ण नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता है—

(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग काला हो जाता है

(ख) नील-वर्ण-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, नीला ,, ,, ,,

(ग) लोहित-वर्ण-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, लाल ,, ,, ,,

(घ) हारिद्र-वर्ण नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, पीला ,, ,, ,,

(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, सफेद ,, ,, ,,

१०—गन्ध नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता है।

(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।

(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर दुर्गन्धवासित होता है।

११—रस नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।

(क) तिक्त-रस नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।

(ख) कटु रस नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, कडुआ होता है।

(ग) कषाय-रस-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, कसैला होता है।

(घ) आम्ल-रस-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, खट्टा ,, ,,

(ङ) मधुर-रस-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, मीठा ,, ,,

१२—स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है।

(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।

(ख) मृदु ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, कोमल ,, ,,

(ग) गुरु ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, भारी ,, ,,

(घ) लघु ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, हल्का ,, ,,

(ङ) स्निग्ध ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, चिकना ,, ,,

(च) रूक्ष ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, रूखा ,, ,,

(छ) शीत ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, ठंडा ,, ,,

(ज) उष्ण ,, ,, — ,, ,, ,, ,, ,, ,, गरम ,, ,,

(१३) अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नहीं होता और हवा में उड़ जाए वैसा हल्का भी नहीं होता।

(१४) उपघात, नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्म-हत्या करता है।

(१५) पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम[२३]—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यंच-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(१७) उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

(१८) आतप नाम[२४]—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।

(१९) उद्योत-नाम[२५]—इसके उदय से शरीर में से शीत-प्रकाश निकलता है।

(२०) विहायोगति नाम[२६]—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

(२१) त्रस नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।

(२२) स्थावर नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छा पूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।

(२३) सूक्ष्म नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है[२७]।

(२४) बादर नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है[२८]।

(२५) पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।

(२६) अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।

(२७) साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।

(२८) प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।

(२९) स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।

(३०) अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।

(३१) शुभ नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

(३२) अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं[२९]।

(३३) सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए बिना व सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।

(३४) दुर्भग नाम—इसके उदय से उपकारक व सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।

(३५) सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।

(३६) दुःस्वर नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।

(३७) आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।

(३८) अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।

(३९) यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४०) अयशकीर्तिनाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुदगल।

(४१) निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४२) तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

७—गोत्र—

(१) उच्च गोत्र—इसके उदय से सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।
(ख) कुल ,, ,, —पितृ ,, ,,
(ग) बल ,, ,, —बल ,, ,,
(घ) रूप ,, ,, —रूप ,, ,,
(ङ) तप ,, ,, —तप ,, ,,
(च) श्रुत ,, ,, —ज्ञान ,, ,,
(छ) लाभ ,, ,, —प्राप्ति ,, ,,
(ज) ऐश्वर्य ,, ,, —ऐश्वर्य ,, ,,

(२) नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान व अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति नीच गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।
(ख) कुल ,, ,, —पितृ ,, ,,
(ग) बल ,, ,, —बल ,, ,,
(घ) रूप ,, ,, —रूप ,, ,,
(ङ) तप ,, ,, —तप ,, ,,
(च) श्रुत ,, ,, —ज्ञान ,, ,,
(छ) लाभ ,, ,, —प्राप्ति,, ,,
(ज) ऐश्वर्य ,, ,, —ऐश्वर्य,, ,,

८—अन्तराय—इसके उदय का क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है।

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नहीं दिया जा सकता।
(ख) लाभ अन्तराय—इसके उदय से लाभ नहीं होता।
(ग) भोग अन्तराय—इसके उदय से भोग नहीं होता।
(घ) उपभोग अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नहीं होता।
(ङ) वीर्य अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति

	कर्म की प्रकृतियां	जघन्य-स्थिति	उत्कृष्ट-स्थिति
५	ज्ञानावरणीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर
१०	निद्रापंचक	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१४	दर्शन-चतुष्क	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर
१५	सात-वेदनीय (ईर्यापथिक, सम्पराय)	२ समय	२ समय
१६	असात-वेदनीय	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वें भाग में— पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१७	सम्यक्त्व-वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	कुछ अधिक ६६ सागर से
१८	मिथ्यात्व-वेदनीय	एक सागर में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	७० कोटा कोटि सागर
१९	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	अन्तर्-मुहूर्त्त
३१	कषाय-द्वादशक (अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ)	एक सागर के $\frac{4}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	४० कोटा कोटि सागर
३२	क्रोध—सञ्ज्वलन	२ मास	४० कोटा कोटि सागर

३३	मान—सञ्ज्वलन	१ मास	४० कोटा कोटि सागर
३४	माया सञ्ज्वलन	अर्द्ध-मास	४० कोटा कोटि सागर
३५	लोभ—सञ्ज्वलन	अन्तर् मुहूर्त्त	४० कोटा कोटि सागर
३६	स्त्री-वेद	एक सागर के १५/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
३७	पुरुष-वेद	८ वर्ष	१० कोटा कोटि सागर
४२	नपुंसक वेद, अरति, भय, शोक, दुगुंछा	एक सागर के २/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर
४४	हास्य, रति	एक सागर के १/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
४६	नैरयिकायुष, देवायुष	१० हजारवर्ष अन्तर्-मुहूर्त्त अधिक	३३ सागर क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
४८	तिर्यञ्चायुष, मनुष्यायुष	अन्तर् मुहूर्त्त	३ पल्य और क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
५४	नैरयिकगतिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, वैक्रयिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन)	हजार सागर के २/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर

५६	तिर्यञ्च गतिनाम तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम	यथा नपुंसक वेद।	
५८	मनुष्य गतिनाम, मनुष्यानुपूर्वी नाम	एक सागर के १॥/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
६०	देव-गति-नाम, देवानुपूर्वीनाम	हजार सागर २/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
७२	एकेन्द्रिय, जातिनाम, पंचेन्द्रिय जातिनाम, औदारिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन) तैजस, कार्मण दोनों कालिक (शरीर, बन्धन, संघातन)	एक सागर के २/७ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटा कोटि सागर
७५	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जातिनाम	एक सागर के ९/३५ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१८ कोटा कोटि सागर
८०	आहारक चतुष्क, तीर्थंकर नाम	अन्तः कोटा कोटि सागर	अन्तः कोटि कोटि सागर
८२	वज्रऋृषभनाराच-संहनन नाम समचतुरस्र-संस्थान नाम	हास्यवत्	
८४	ऋृषभनाराच-संहनन नाम न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम	एक सागर के ३/१५ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१२ कोटा कोटि सागर

८६	नाराच संहनन नाम सादिसंस्थान नाम	एक सागर के ७/३५ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१४ कोटा कोटि नागर
८८	अर्द्धनाराच संहनन नाम वामन संस्थान नाम	एक सागर के ८/३५ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१६ कोटा कोटि सागर
९०	कीलक संहनन नाम कुब्ज संस्थान नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
९२	सेवार्त्त संहनन नाम हुंडक संस्थान नाम	नपुंमक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
९४	श्वेतवर्ण नाम, मधुर-रस-नाम	हाम्यवत्	
९६	पीत-वर्ण-नाम, आम्ल-रस-नाम	एक सागर के ५/२८ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१२॥ कोटा कोटि सागर
९८	रक्त-वर्ण-नाम, कपाय-रस-नाम	एक सागर के ६/२८ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
१००	नील वर्ण, कटुक रस	एक सागर के ७/२८ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१७॥ कोटा कोटि सागर

१०२	कृष्ण-वर्ण, तिक्त रस	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१०४	सुरभि गन्ध, प्रशस्त विहायोगति	हास्यवत्	हास्यवत्
१०६	दुरभिगन्ध, अप्रशस्त विहायोगति	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११०	कर्कश-स्पर्शनाम, गुरु-स्पर्शमान, शीत-स्पर्शनाम, रूक्ष-स्पर्शनाम	नपुसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११४	मृदु-स्पर्शनाम, लघु-स्पर्शनाम स्निग्ध-स्पर्शनाम, उष्ण-स्पर्शनाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१२१	पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम उद्योत नाम, अगुरु लघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१२४	सूक्ष्म नाम, अपर्याप्ति नाम, साधारण नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
१३५	त्रसनाम, वादर-नाम, प्रत्येक-नाम पर्याप्त-नाम, स्थावर-नाम, अस्थिर नाम अशुभ-नाम, दुर्भग-नाम, दुःस्वर-नाम अनादेय-नाम, अयशः कीर्तिनाम।	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४०	स्थिर-नाम, सुभ-नाम, शुभग-नाम, सुस्वर-नाम, आदेय-नाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१४२	यशः कीर्ति नाम, उच्चगोत्र	अष्ट-मुहूर्त्त	१० कोटा कोटि सागर
१४३	नीच-गोत्र	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४८	अन्तराय पंचक	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर

इनमें चार कोटि की पुद्‌गल-वर्गणाएं चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक है। चेतना के दो रूप हैं (१) ज्ञान-जानना वस्तु स्वरूप का विमर्षण (२) दर्शन—साक्षात् करना—वस्तु का स्वरूप ग्रहण। ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्‌गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं। आत्मा को विकृत वनाने वाले पुद्‌गलों की संज्ञा 'मोहनीय' है। आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्‌गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घाति कर्म हैं। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघाति कर्म हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्‌गलिक दशा के निमित्त हैं।

चार कोटि की वर्गणाएं जीवन-निर्माण और अनुभूतिकारक है। जीवन का अर्थ है आत्मा और शरीर का सहभाव। (१) शुभ-अशुभ शरीर का निर्माण करने वाली कर्म-वर्गणाएं नाम (२) शुभ-अशुभ जीवन को वनाए रखने वाली कर्म-वर्गणाएं 'आयुष्य' (३) व्यक्ति को सम्माननीय और असम्माननीय वनाने वाली कर्म-वर्गणाएं 'गोत्र' (४) सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाली कर्म-वर्गणाएं 'वेदनीय' कहलाती हैं। तीसरी व्यवस्था काल-मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति वन्ध है। चौथी अवस्था फल-दान शक्ति की है। इसके अनुसार उन पुद्‌गलों में रस की तीव्रता और मन्दता का निर्माण होता है। यह अनुभाव वन्ध है।

वन्ध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग है। आत्मा के साथ कर्म पुद्‌गलों के आश्लेप या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश वन्ध' सवसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके वाद अमुक-अमुक स्वभाव; स्थिति और रस शक्ति वाला पुद्‌गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण में वंट जाता है—यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश वन्ध है। वन्ध के वर्गीकरण का मूल विन्दु स्वभाव निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इनका अन्तिम विभाग है।

वन्ध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है।

यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का वहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है। किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक-शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं—इस प्रक्रिया को बन्ध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है—इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बन्ध, आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बन्ध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं। दोनों में से एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है [३०]।

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का वन्ध नहीं होता। पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का वन्ध करता है [३१]।

मोह-कम के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का वन्ध करता है [३२]।

मोह-रहित प्रवृति करते समय शरीर नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का वन्ध करता है [३३]।

नए वन्धन का हेतु पूर्व वन्धन न हो तो अवद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से वन्धे विना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नए सिरे से नहीं।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है[३४] ?"

भगवान् ने कहा—गौतम! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण) उदीरणा, वेदना और निर्जरा दुखी जीव करता है, अदुखी जीव नहीं करता [३५]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! कर्म कौन वांधता है ? संयत, असंयत अथवा संयतासंयत [३६] ?

भगवान् ने कहा—गौतम! असंयत, संयतासंयत और संयत—ये सव कर्म वन्ध करते हैं। दशवें गुण-स्थान के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का वन्ध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी केवल पुण्य का वन्ध करते हैं।

कर्म-बन्ध कैसे ?

गौतम—"भगवन्! जीव कर्म-वन्ध कैसे करता है ?"

भगवान्—"गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का वन्ध होता है [३७]।

कर्म-बन्ध का मुख्य हेतु कपाय है। संक्षेप में कपाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके तारतम्य की चार रेखाएँ हैं—(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान और (४) संज्वलन।

पुण्य बन्ध का हेतु

पुण्य-बन्ध का हेतु शुभ-योग (शरीर, वाणी और मन का शुभ व्यापार) है। कई आचार्य मन्द-कपाय से पुण्य-बन्ध होना मानते हैं[३८]। किन्तु आचार्य भिक्षु इसे मान्य नहीं करते। उनके मतानुसार मन्द-कपाय से पुण्य का आकर्षण नहीं होता। किन्तु कपाय की मन्दता से होने वाले शुभ-योग के समय नाम-कर्म के द्वारा उनका आकर्षण होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार शुभोपयोग एक अपराध है[३९]। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित—ये तीनों मुक्ति के हेतु हैं। इनके द्वारा कर्म का वन्ध नहीं होता। आत्मा का निश्चय (सम्यक्-दर्शन) आत्मा का वोध (सम्यक्-ज्ञान) और आत्मा में रमण (सम्यक्-चारित्र)—ये वन्धन के निमित्त नहीं हो सकते।

जिस अंश में ये तीनों हैं, उस अंश में मुक्ति है। और जिस अंश में कपाय या नाम-कर्म का उदय है, उस अंश में वंधन है।

"सम्यक्त्व और चारित्र से देव गति के आयुष्य का वन्धन होता है"—ऐसे प्रकरण जो हैं, वे सापेक्ष हैं। इनका आशय यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र की अवस्था में जो आयुष्य वन्धता है, वह देव-गति का ही वन्धता है। इसका आशय "सम्यक्त्व या चारित्र से देव-गति का आयुष्य वन्धता है"—यह नहीं है।

पाप-कर्म का विकर्पण (निर्जरण) और पुण्यकर्म का आकर्पण—ये दोनों विरोधी कार्य हैं। एक ही कारण से निष्पन्न होते तो इनमें विरोध आता। पर ऐसा नहीं होता। पाप-कर्म के विकर्पण का कारण आत्मा की पवित्रता (कर्म-शास्त्र की भापा में 'शुभयोग' का वह अंश, जो पूर्वार्जित पाप-कर्म के विलय से पवित्र वनता है) है। पुण्य-कर्म के आकर्पण का कारण आत्मिक चंचलता। (कर्म-शास्त्र की भापा में 'शुभ योग' का वह अंश जो नाम-कर्म

के उदय से चंचल बनता है)। आत्मा की पवित्रता और चंचलता—इन दोनों की संयुक्त संज्ञा शुभ-योग है। यह दो कारणों की संयुक्त निष्पत्ति है। इसलिए इससे दो कार्य (पाप-कर्म का विकर्षण और पुण्य-कर्म का आकर्षण निष्पन्न होते हैं। वास्तव में यह व्यावहारिक निरूपण है। पाप-कर्म का विकर्षण आत्मा की पवित्रता से होता है और पुण्य-कर्म का आकर्षण होता है, वह आत्म-चंचलता-जनित अनिवार्यता है। जब तक आत्मा चंचल होता है, तब तक कर्म परमाणुओं का आकर्षण कभी नहीं रुकता। चंचलता के साथ आत्मा की पवित्रता (अमोह या वितरागभाव) का योग होता है तो पुण्य के परमाणुओं का और उसके साथ आत्मा की अपवित्रता (मोह) का योग होता है तो पाप के परमाणुओं का आकर्षण होता है। यह आकर्षण चंचलता का अनिवार्य परिणाम है। चंचलता रुकते ही उनका आकर्षण रुक जाता है। आत्मा पूर्ण अनास्रव हो जाता है।

कर्म का नाना रूपों में दर्शन

बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल-वर्गणाएं गृहीत होती हैं[४०]। उनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल हैं, वे कर्म बनने के योग्य (कर्म-प्रायोग्य) होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—(१) अनन्त प्रदेशी-स्कन्धत्व (२) चतुःस्पर्शित्व, (३) सत्-असत्-परिणाम—ग्रहण योग्यत्व[४१]।

(१) संख्यात-असंख्यात—प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। (२) दो, तीन, चार, पांच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध-कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। (३) आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति (शुभ-अशुभ आस्रव) के बिना सहज प्रवृत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल-स्कन्ध कर्म-रूप में परिणत नहीं हो सकते। कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की पहली अवस्था बन्ध है और अन्तिम अवस्था है वेदना। कर्म के विसम्बन्ध की अवस्था निर्जरा है। किन्तु वह कर्म की नहीं होती, अकर्म की होती है। वेदना कर्म की होती है और निर्जरा अकर्म की[४२]। इसलिए व्यवहार में कर्म की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय में वह वेदना मानी गई है। बन्ध और

वेदना या निर्जरा के बीच भी उनकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं। कर्म की सारी दशाएं अनेक रूपों में वर्णित हुई हैं।

प्रज्ञापना के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) बद्ध (२) स्पृष्ट (३) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट (४) संचित (५) चित (६) उपचित (७) आपाक-प्राप्त (८) विपाक-प्राप्त (९) फल-प्राप्त (१०) उदय-प्राप्त [४३]।

स्थानांग के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) चय (२) उपचय (३) बन्ध (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा [४४]।

भगवती के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) भेद (२) चय (३) उपचय (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा (७) अपवर्तन (८) संक्रमण (९) नियति (१०) निकाचना[४५]।

(१) जीव की राग-द्वेषात्मक परिणति से कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल 'बद्ध' कहलाते हैं।

(२) आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लेप पाये हुए कर्म-पुद्गल 'स्पृष्ट' कहलाते हैं।

(३) आत्म-प्रदेशों के साथ-साथ दृढ़रूप में बन्धे हुए तथा गाढ़ स्पर्श से उन्हें छूए हुए (आवेष्टित परिवेष्टित किये हुए) कर्म-पुद्गल 'बद्ध-स्पृष्ट' कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों का कर्म-रूप में परिवर्तन, आत्मा के साथ उनका मिलन और आत्मा के साथ एकीभाव—ये तीनों बन्धकालीन अवस्थाएं हैं।

(४) कर्म का बाधा-काल या पकने का काल पूरा नहीं होता, तब तक वह फल देने योग्य नहीं बनता। अबाधा-काल बन्ध और उदय का आन्तरिक काल है। अबाधा-काल पूर्ण होने के पश्चात् फल देने योग्य निषेक बनते हैं। वह 'संचित' अवस्था है।

(५) कर्मों की प्रदेश-हानि और रस-वृद्धि के रूप में रचना होती है, वह 'चित' अवस्था है।

(६) संक्रमण के द्वारा जो कर्म का उपचय होता है, वह 'उपचित' अवस्था है।

ये तीनों बन्धन की उत्तरकालीन अवस्थाएं हैं।

(१) आपाक-प्राप्त (थोड़ा पका हुआ) (२) विपाक-प्राप्त—(पूरा पका हुआ) (३) फल-प्राप्त (फल देने में समर्थ)—ये तीनों उदय-सम्बद्ध हैं। इनके बाद वह कर्म उदय-प्राप्त होता है।

फल विपाक

एक समय की बात है, भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी अणगार भगवान् के पास आये, वन्दना नमस्कार कर बोले—"भगवन्। जीवों के किए हुए पाप कर्मों का परिपाक पापकारी होता है[४६] ?

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन् ! यह कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यञ्जनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नहीं होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं। कालोदायी ! यूं पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते है।"

कालोदायी—"भगवन्। जीवों के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन्। कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी। जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपात भद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है—वह परिणाम-भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत्

मिथ्या दर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणाम भद्र होती है। कालोदायी ! यूं कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।"

उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय है, दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बन्धे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक। (कर्म पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रगट होने लगते हैं, वह उदय है[४७]।

उदय के दो रूप

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है। (१) प्राप्त-काल कर्म का उदय (२) अप्राप्त-काल कर्म का उदय। कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान मात्र होता है किन्तु उनका कर्तृत्व प्रगट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान-काल है। अबाधा का अर्थ है—अन्तर। बन्ध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है[४८]।

अबाधा-काल के द्वारा कर्म स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। (१) अवस्थान-काल (२) अनुभव-काल या निषेक-काल[४९]। अबाधा-काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा-काल पूरा होने पर होता है। जितना अबाधा-काल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अबाधा-काल को छोड़कर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनों सम-काल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल बना थोड़े समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारब्ध होता है। वह प्राप्त-काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आएं तो

आकस्मिक-घटनाओ की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना के द्वारा कर्म की उदीरणा या अप्राप्त-काल उदय होता है। इसलिए आकस्मिक घटनाएं भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिसन्देह पैदा नहीं करतीं। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय :—

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है [५०]। इसी प्रकार हास्य,[५१] भय, वेद (विकार) और कषाय[५२] के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है [५३]।

अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक-उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक-उदय—सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नरक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है। गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो आता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया, यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ, यह असात-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है [५४]। अगर ये हेतु नहीं मिलते हैं तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है—प्रदेश-उदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए पाप कर्म भोगे विना नहीं छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हाँ, गौतम! यह सच है।

गौतम—कैसे भगवन्?

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—प्रदेश-कर्म [५५] और अनुभाग-कर्म [५६]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः (अवश्य ही भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते [५७]।

कर्म के उदय से क्या होता है?

(१) ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता। उसका ज्ञान आवृत्त हो जाता है। इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य-विषय को नहीं देखता, दिदृक्षु (देखने का इच्छुक) होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण।

(३) क—सात वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति

करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः-सुखता, वाङ्-सुखता, काय-सुखता।

(ख) असात वेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता।

(४) मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव पांच हैं—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

(५) आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु।

(६) क—शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता।

ख—अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट-लावण्य, अनिष्ट यशोःकीर्ति, अनिष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता। अमनोज्ञ स्वरता।

(७) क—उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता, ऐश्वर्य विशिष्टता।

ख—नीच गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता, रूप-विहीनता, तपो विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य विहीनता।

(८) अन्तराय कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का विनाश और लभ्य

वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है। इसके अनुभाव पांच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है। तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है[५८]। वह द्रव्य[५९], क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति[६०], स्थिति, पुद्गल—परिमाण आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है,[६१] कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं।

क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म-परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म-परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है[६२]।

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है जो व्यक्ति इस तत्त्व को

नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय दृष्टि से ये दोनों हेय हैं [६३]।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एक मत है। उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं [६४]। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करनेवाली विचार-धारा को पर समय माना है [६५]।

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है।" इसलिए हमें वह नहीं चाहिए [६६]।

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य की आकांक्षा (निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है [६७]। उनके लिए यह क्रम नहीं है—वह उन्हें बुद्धि-विनाश की ओर नहीं ले जाता [६८]।

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों में—"वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुःख परम्परा की ओर ढकेल दे। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है [६९]।"

आत्म-साधना के क्षेत्र में पुण्य की सीधी उपादेयता नहीं है, इस दृष्टि से पूर्ण सामञ्जस्य है।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप कर्म का विकर्षण किए विना ही पुण्य कर्म का आकर्षण होना मानते हैं। किन्तु यही चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र में आकर्षण और

विकर्पण दोनों होते हैं। श्वेताम्बर आगमों में इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! श्रमण को वंदन करने से क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! श्रमण को वंदन करने वाला नीच-गोत्र-कर्म को खपाता है और उच्च-गोत्र-कर्म का वन्ध करता है[७०]। यहाँ एक शुभ प्रवृत्ति से पाप कर्म का क्षय और पुण्य कर्म का वन्ध—इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति मानी गई है तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते[७१]। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है (शुभ परिणाम है) और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है[७२]। दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा की पर्याय है[७३] और पुण्य अजीव (पुद्गल) की पर्याय है[७४]। दूसरी बात धर्म (निर्जरारूप, यहाँ सम्वर की अपेक्षा नहीं है) सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है[७५]; कारण कि सत्प्रवृत्ति के विना पुण्य नहीं होता। तीसरी वात धर्म आत्म-शुद्धि—आत्म-मुक्ति का साधन है[७६], और पुण्य आत्मा के लिए वन्धन है[७७]। अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे—सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के विना पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही अधर्म के विना पाप की भी उत्पत्ति नहीं होती[७८]। पुण्य-पाप फल है, जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं तथा ये दोनो धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं[७९]। लक्षण लक्ष्य के विना अकेला पैदा नहीं होता। जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म अधर्म, सत् अथवा असत्[८०]। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का वन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का वन्ध होता है। इसलिए इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय-परिणाम पर निर्भर है[८१]। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है[८२]। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-

ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं [८३]। ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभभावयुक्त जीव को पाप कहा है [८४]। अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

इसलिए अमुक प्रवृत्ति में धर्म या अधर्म नहीं होता, केवल पुण्य या पाप होता है, यह मानना संगत नहीं। कहीं-कहीं पुण्य हेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है [८५]। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष (गौण-मुख्य-रूप) दृष्टिकोण है। तात्पर्य में जहाँ पुण्य है, वहाँ सत्प्रवृत्तिरूप धर्म अवश्य होता है। इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस रूप में समझाया है कि "अर्थ और काम—ये पुण्य के फल हैं। इनके लिए दौड़-धूप मत करो [८६]। अधिक से अधिक धर्म का आचरण करो। क्योंकि उसके बिना ये भी मिलने वाले नहीं हैं।" अधर्म का फल दुर्गति है। धर्म का मुख्य फल आत्म-शुद्धि—मोक्ष है। किन्तु मोक्ष न मिलने तक गौण फल के रूप में पुण्य का बन्ध भी होता रहता है, और उससे अनिवार्यतया अर्थ, काम आदि-आदि पौद्गलिक सुख-साधनों की उपलब्धि भी होती रहती है [८७]। इसीलिए यह प्रसिद्ध सूक्ति है—"सुखं हि जगतामेकं काम्यं धर्मेण लभ्यते।"

महाभारत के अन्त में भी यही लिखा है।

"अरे भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, पर कोई भी नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। तब तुम उसका आचरण क्यों नहीं करते हो [८८]?"

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है, यही फलित होता है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं [८९]। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—"सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दुःखद होते हैं।" इससे फलित

यही होता है कि महर्षि पतंजलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्र उत्पत्ति नहीं मानी है। जैन विचारों के साथ उन्हें तोलें तो कोई अन्तर नहीं आता।

तुलना के लिए देखें :—
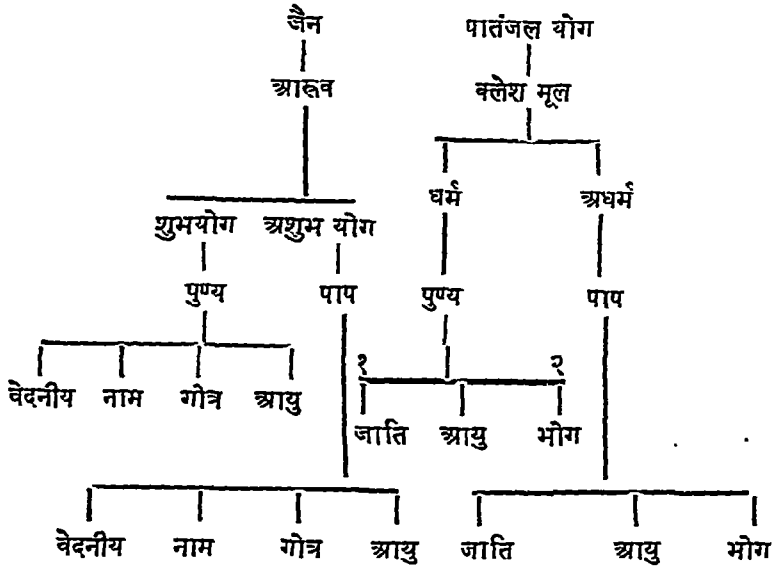
कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्यबन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है[१०]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है[११]।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए करो[१२]।" यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए[१३]।" क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है[१४]।" "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है[१५]।" गीता भी यहीं कहती है—"बुद्धिमान्

१—जाति—जैन परिभाषा में नाम कर्म की एक प्रकृति के साथ इसकी तुलना होती है।
२—भोग-वेदनीय।

सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है[९६]।" "आस्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का, जैनी दृष्टि का वस यही सार है[९७]।" अभयदेवसूरि ने स्थानांग की टीका में आस्रव, वन्ध, पुण्य और पाप को संसार-भ्रमण के हेतु कहा है[९८]। आचार्य भिक्षु ने इसे यों समझाया है कि "पुण्य से भोग मिलते हैं, जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है[९९]। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।

इसका निगमन यों होना चाहिए कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-वन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनों का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुसंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नहीं है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में वात यह नहीं है। ऊपर की पंक्तियों का विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण का है, लौकिक वृत्तियों में रहने वाले अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। हां फिरभी भारतीय एकान्त-भौतिकता से वहुत वचे हैं। उन्होंने प्रेय और श्रेय को एक नहीं माना[१००]। अभ्युदय को ही सव कुछ मानने वाले भौतिकवादियों ने युग को कितना जटिल वना दिया, इसे कौन अनुभव नहीं करता।

उदीरणा-योग्य कर्म

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव उदीर्ण (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है। अनुदीर्ण (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है? अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है? अथवा उदयानन्तर पश्चात् कृत (कर्म पुद्गलों) की उदीरणा करता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य की उदीरणा करता है। उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता[१०१]।

१—उदीरित (उदीर्ण-उदीरणा किये हुए) कर्म-पुद्गलों की फिर से

उदीरणा करे तो उस (उदीरणा) की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२—जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं ही होने वाली है, उन अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

३—जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर पश्चात् कृत), वे सामर्थ्यहीन बन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

४—जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण-उदीरणा-भव्य) हैं, उन हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु पुरुषार्थ

कर्म के काल-प्राप्त-उदय (स्वाभाविक उदय) में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अनुदीर्ण, उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण, उदीरणा भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता [१०२]।"

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप :—

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। करण का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—(१) शारीरिक व्यापार (२) वाचिक व्यापार (३) मानसिक व्यापार। उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं, योग शुभ और

अशुभ दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय-रहित योग शुभ और आस्रव-चतुष्टय सहित योग अशुभ। शुभ योग तपस्या है। सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है[१०३]।

पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की बन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होती तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

(१) अपवर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

(२) उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

(३) उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[१०४]। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो

कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला होता है। कर्म के बन्ध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व-बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति-संक्रम (२) स्थिति संक्रम (३) अनुभाव-संक्रम (४) प्रदेश-संक्रम [१०५]।

प्रकृति संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

ये चारों—(अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण) उदयावलिका (उदय क्षण) ये वहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

वेदना

गौतम—भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवम्भूत वेदना (जैसे कर्म बाधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है?

भगवान्—गौतम! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं यूं कहता हूँ—कई जीव एवम्भूत-वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवम्भूत वेदना भी भोगते हैं।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान—गौतम! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं वे अन्-एवम्भूत वेदना भोगते है [१०६]।

काल-निर्णय

उस काल और उस समय की बात है—भगवान् राजगृह के (ईशान-कोणवर्ती) गुणशीलक नाम के चैत्य (व्यन्तरायतन) में समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। परिषद् चली गई।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को श्रद्धा, संशय या कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे भगवान् के पास आए। वन्दना-नमस्कार कर न अति दूर और न अति निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—भगवन्! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का भेद और उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव कर्म-द्रव्य-वर्गणा (कर्म-पुद्गल सजातीय-समूह) की अपेक्षा अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्गलों का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार भेद, चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचन करते हैं [१०७]।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण (कर्म समूह) पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में करते हैं? प्रत्युत्पन्न काल में? या अनागत (भविष्य) काल में?

भगवान्—गौतम! नैरयिक तैजस और कार्मण पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में नहीं करते, वर्तमान काल में करते हैं, अनागत काल में भी नहीं करते।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण किए हुए तैजस और कार्मण पुद्गलों की उदीरणा करते हैं? प्रत्युत्पन्न में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की? या ग्रहण समय पुरस्कृत (वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किये जाने वाले) पुद्गलों की?

भगवान्—गौतम! वे अतीत काल में ग्रहण किए हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, न प्रत्युत्पन्न काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्गलों की भी। इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की होती है।

निर्जरा

संयम का अंतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनों भिन्न हैं। वियोग में आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है, आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं, अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है [१०८]।

कोई फल डाली पर पक कर टूटता है, और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ-प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म-हेतुक निर्जरा नव-तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष इसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप-भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय [१०९]। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है [११०]। इसके बारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किये गये हैं [१११]। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदों का

आधार भी यही दृष्टि है [११२]। वस्तुतः सकाम और अकाम तप होता है, निर्जरा नहीं। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमें मात्रा का तारतम्य होता है, किन्तु स्वरूप का भेद नहीं होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र [११३]। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिरभी गिर जाता है; इसलिये गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होने वाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतन्त्र है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतन्त्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है [११४]। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन[११५]।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। (२) दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

सोपक्रम—जो कर्म उपचार साध्य होता है। निरूपक्रम—जिसका कोई प्रतिकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है. और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ ही नहीं

रहता। पहले बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातंजलयोग भाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई हैं[११६]। उनमें "कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" एक गति यह है। इसीको जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म-परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

कर्म-सम्बन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मन्द हो जाती है।

ज्यों-ज्यों कषाय मन्द होता है, त्यों त्यों निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बन्ध शिथिल होता जाता है। वीतराग के सिर्फ दो समय की स्थिति का बन्ध होता है। पहले क्षण में कर्म-परमाणु उसके साथ सम्बन्ध करते हैं, दूसरे क्षण में भोग लिए जाते हैं और तीसरे क्षण में वे उनसे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रक्रियाएं रुक जाती हैं। वहाँ केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बन्ध नहीं होता। अबन्ध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाता है।

कुछ व्यक्ति अल्प और अल्पतर और कुछ एक महत् और महत्तर कर्म-संचय को लिए हुए जन्म लेते हैं। उनकी साधना का क्रम और काल भी उसीके अनुरूप होता है[११७]। जैसे—अल्पकर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, दीर्घ प्रव्रज्या (साधना-काल)—भरत चक्रवर्तीवत्।

अल्पतर कर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, अल्पतर प्रव्रज्या—मरुदेवावत्।

महत्‌कर्म प्रत्ययात्—घोर तप, घोर वेदना, अल्प प्रव्रज्या—गजसुकुमारवत्।

. महत्तरकर्म-प्रत्ययात्—घोरतर तप, घोरतर वेदना, दीर्घतर प्रव्रज्या—सनत्कुमारवत् [११८]।

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादि-कालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति-विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी, और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुलमिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, जड़स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका जड़द्रव्य (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए जड़-द्रव्यजन्य परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी द्रव्य-लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य-लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण द्रव्य-लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है, जैसे कृष्ण-लेश्या, नील लेश्या आदि-आदि। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं। खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन'

यह उक्ति भी निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। "जल्लेसाइं दव्वाइं आदिअन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ[११९]"—जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है। इस आगम-वाक्य से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-लेश्या के साथ भाव-लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि द्रव्य-लेश्या के ग्रहण का क्या कारण है? यदि भाव-लेश्या को उसका कारण मानें तो उसका अर्थ होता है—भाव-लेश्या के अनुरूप द्रव्य-लेश्या, न कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या। ऊपर की पंक्तियों में यह बताया गया है कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या होती है। यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। भाव-लेश्या यानी द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से होने वाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह-कर्म के उदय से तथा उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम से[१२०]। औदयिक भाव-लेश्याएं बुरी (अप्रशस्त) होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयौपशमिक लेश्याएं भली (प्रशस्त) होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। प्रज्ञापना में कहा है—"तओ दुग्गइ गामिणिओ, तओ सुग्गइ गामिणिओ"[१२१]—अर्थात् पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं। उत्तराध्ययन में इनको अधर्म लेश्या और धर्म-लेश्या भी कहा है—"किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।......तेऊ पम्हा सुक्काए, तिण्णि वि एयाओ धम्म लेसाओ"[१२२] कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएं हैं और तेजः, पद्म एवं शुक्ल—

ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं। उक्त प्रकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय (भाव-लेश्या) होने का मूल कारण मोह का अभाव (पूर्ण या अपूर्ण) या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। परिभाषा के शब्दों में कहें तो सिर्फ द्रव्य-लेश्या के अनुरूप ही भाव-लेश्या नहीं बनती। मोह का भाव अभाव तथा द्रव्य-लेश्या—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं। द्रव्य-लेश्याओं के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जानने के लिए देखो यन्त्र।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्त गुण मधुर		
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुण मिष्ट	सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्त गुण इष्ट गन्ध	नवनीत-मक्खन से अनन्त गुण सुकुमार
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

लेश्याकी विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना का १७ वां पद और उत्तराध्ययन का ३४ वां अध्ययन द्रष्टव्य है। जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं बतलाई हैं। तुलना के लिए देखो महाभारत पर्व १२-२८६। पातञ्जलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियां भाव-

लेश्या की श्रेणी में आती हैं [१२३]। सांख्यदर्शन[१२४] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में रजः, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है [१२५]। यह द्रव्य-लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मलरहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमो गुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं

इस विश्वमें जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

(१) अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

(२) ,, ,, मूर्त—पुद्गल।

(३) चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणामतः स्वाभाविक ही होता है और वह सतत् प्रवहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है [१२६]। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीवत् शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान-आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गलकृत जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियां बनती हैं। वह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है। जैन दर्शन ने इस आध्यात्मिक परिवर्तन की चार श्रेणियां निर्धारित की हैं—

(१) औदयिक (२) औपशमिक (३) क्षायिक (४) क्षायौपशमिक।

बाहरी पुद्गलों के संयोग-वियोग से असंख्य-अनन्त अवस्थाएं बनती हैं। पर वे जीव पर आन्तरिक असर नहीं डालतीं, इसलिए उनकी मीमांसा भौतिक-शास्त्र या शरीर-शास्त्र तक ही सीमित रह जाती हैं। यह मीमांसा आत्मा द्वारा स्वीकृत किये गये कर्म-पुद्गलों के संयोग-वियोग की है। जीव-संयुक्त कर्म-परमाणुओं के परिपाक या उदय से जीव में ये अवस्थाएं होती हैं :—

गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस काय, वायु काय, वनस्पतिकाय, त्रस काय।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल आदि-आदि [१२७]।

कर्मवियोग के तीन रूप हैं—उपशम, क्षय (सर्व-विलय) और क्षयोपशम (अंश-विलय)। उपशम केवल 'मोह' का ही होता है। उससे (औपशमिक) सम्यक्-दर्शन व चरित्र—दो अवस्थाएं बनती हैं [१२८]।

क्षय सभी कर्मों का होता है। क्षायिकभाव आत्मा का स्वभाव है। आवरण, वेदना, मोह, आयु, शरीर, गोत्र और अन्तराय—ये कर्म कृत वैभाविक अवस्थाएं हैं। इनका क्षय होने पर आत्मा का स्वभावोदय होता है। फिर आत्मा निरावरण, अवेदन, निर्मोह, निरायु, अशरीर, अगोत्र और निरन्तराय हो जाता है [१२९]। ज्ञानात्मक चेतना के आवारक पुद्गलों के अंश-विलय से होने वाले आत्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है—इन्द्रिय-ज्ञान—मानस ज्ञान—पौद्गलिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान।

परिभाषा के शब्दों में इनकी प्रारम्भिक अभेदात्मक-दशा को दर्शन, उत्तरवर्ती या विश्लेषणात्मक दशा को ज्ञान कहा जाता है। ये सम्यक् दृष्टि के हों तो इन्हें ज्ञान और मिथ्या-दृष्टि के हों तो अज्ञान कहा जाता है।

मोह के अंश-विलय से सम्यक् श्रद्धा और सम्यक्-आचार का ससीम विकास होता है।

अन्तराय के अंश-विलय से आत्म-वीर्य का सीमित उदय होता है [१३०]।

क्षयोपशम

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय,—ये चार कर्म घाती हैं, और शेष चार अघाती। घाती कर्म आत्म-गुणों की साक्षात् घात करते हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर जीव के ज्ञान आदि गुणों पर होता है, गुण-विकास रुकता है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से होता है। इनकी अनुभाग-शक्ति का जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं होता। अघाती कर्मों का या तो उदय होता है या क्षय—सर्वथा अभाव। इनके उदय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इन्हीं के उदय से आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त्त इव' रहती है। इनके क्षय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सदा के लिए सर्वथा सम्बन्ध टूट जाता है। और इनका क्षय मुक्त-अवस्था के पहले क्षण में होता है। घाती कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व-चारित्र और वीर्य-शक्ति का विकास रुका रहता है। फिर भी उक्त गुणों का सर्वावरण नहीं होता। जहाँ इनका) घातिक कर्मों का) उदय होता है, वहाँ अभाव भी। यदि ऐसा न हो, आत्मा के गुण पूर्णतया ढक जाएं तो जीव और अजीव में कोई अन्तर न रहे। इसी आशय से नन्दी में कहा है:— "पूर्ण ज्ञान का अनन्तवां भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूरज की प्रभा कुछ न कुछ रहती है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाए।" घाती कर्म के दलिक दो प्रकार के होते हैं—देशघाती और सर्वघाती। जिस कर्म-प्रकृति से आंशिक गुणों की घात होती है, वह देशघाती और जो पूर्ण गुणों की घात करे, वह सर्वघाती। देशघाती कर्म के स्पर्धक भी दो प्रकार के होते हैं—देशघाती स्पर्धक और सर्वघाती स्पर्धक। सर्वघाती स्पर्धकों का उदय रहने तक देश-गुण भी प्रगट नहीं होते। इसलिए आत्म-गुण का यत् किञ्चित् विकास होने में भी सर्वघाती स्पर्धकों का अभाव होना आवश्यक है, चाहे वह क्षयरूप हो या उपशमरूप। जहाँ सर्वघाती स्पर्धकों में कुछ का क्षय और कुछ का उपशम रहता है और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है, उस कर्म-अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम में विपाकोदय नहीं होता,

उसका अभिप्राय यही है कि सर्वघाती स्पर्धकों का विपाकोदय नहीं रहता। देश-घाती स्पर्धकों का विपाकोदय गुणों के प्रगट होने में बाधा नहीं डालता। इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं की गई। क्षयोपशम की कुछेक रूपान्तर के साथ तीन व्याख्याएं हमारे सामने आती हैं—(१) घाती कर्म का विपाकोदय नहीं होना क्षयोपशम है—इससे मुख्यतया कर्म की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। (२) उदय में आये हुए घाती कर्म का क्षय होना, उपशम होना—विपाक रूप से उदय में न आना, प्रदेशोदय रहना क्षयोपशम है। इसमें प्रधानतया क्षयोपशम-दशा में होने वाले कर्मोदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। (३) सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होना। सत्तारूप उपशम होना तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय रहना क्षयोपशम है। इससे प्राधान्यतः क्षयोपशम के कार्य—आवारक-शक्ति के नियमन का बोध होता है।

सारांश सब का यही है कि—जिस कर्म-दशा में क्षय, उपशम और उदय—ये तीनों बातें मिलें, वह क्षयोपशम है। अथवा घाती कर्मों का जो आंशिक अभाव है—क्षययुक्त उपशम है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशम में उदय रहता अवश्य है किन्तु उसका क्षयोपशम के फल पर कोई असर नहीं होता। इसलिए इस कर्म-दशा को क्षय-उपशम इन दो शब्दों के द्वारा ही व्यक्त किया है।

छह

जातिवाद

अहं मंतीति थंभिज्जा, तं जातिमएण वा कुलमएण वा।

(स्था० १०।७-१०)

जो व्यक्ति जाति और कुल का गर्व करता है, अपने आपको सबसे ऊंचा मानता है, वह स्तब्ध हो जाता है।

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यते भवात्तस्मात्, ते ये लिंगकृताग्रहाः॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यते भवात्तस्मात्, ते ये जातिकृताग्रहाः॥

(समाधि० ८७-८८)

जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह तात्त्विक वस्तु नहीं है। जो जाति का वाद लिए हुए है, वह मुक्त नहीं हो सकता।

शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति का भेद नहीं जान पड़ता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म-पद्धति भी एक है। गाय और भैंस में जैसे जाति-कृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जाति-कृत भेद है, वह परिकल्पित है[1]।

मनुष्य जाति की एकता

मनुष्य जाति एक है। भगवान् ऋषभदेव राजा नहीं बने, तब तक वह एक ही रही। वे राजा बने, तब वह दो भागों में बंट गई—जो व्यक्ति राजाश्रित बने, वे क्षत्रिय कहलाए और शेष शूद्र।

कर्म-क्षेत्र की ओर मनुष्य-जाति की प्रगति हो रही थी। अग्नि की उत्पत्ति ने उसमें एक नया परिच्छेद जोड़ दिया। अग्नि ने वैश्य-वर्ग को जन्म दिया। लोहार, शिल्पी और विनिमय की दिशा खुली। मनुष्य-जाति के तीन भाग बन गए। भगवान् साधु बने। भरत चक्रवर्ती बना। उसने स्वाध्यायशील-मण्डल स्थापित किया। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य-जाति के चार भाग हो गए[2]।

युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन चार वर्णों के संयोग से अनेक उपवर्ण व जातियां बन गई[३]।

वैदिक विचार के अनुसार चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नहीं हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया-भेद की भित्ति पर हुआ है[४]।

जैनाचार्य जाति को विधान-सिद्ध बनाने की ओर झुके, वह वैदिक प्रभुत्व के वातावरण से पैदा होने वाली समन्वय-मुखी स्थिति का परिणाम है[५]। इसी समय जैन-परम्परा में स्पृश्य[६]-अस्पृश्य जैसे विभाग और जाति के शुद्धीकरण आदि तत्त्वों के बीज बोये गए[७]।

जातिवाद के खण्डन में भी जैन विद्वान् बड़ी तीव्र गति से चले[८]। पर समय की महिमा समझिए—आज वह जैन-समाज पर छाया हुआ है।

कर्म-विपाक कृत उच्चता-नीचता

उच्चत्व और नीचत्व नहीं होता, यह अभिमत नहीं है। वे हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है, रक्त-परम्परा से नहीं। ब्राह्मण-परम्परा का गोत्र रक्त-परम्परा का पर्यायवाची माना जाता है। जैन-परम्परा में गोत्र शब्द का व्यवहार (१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) तप (६) लाभ (७) श्रुत (८) ऐश्वर्य—इनके प्रकर्ष और अपकर्ष दशा-सूचन के लिए हुआ है।

गोत्र के दो भेद हैं—उच्च और नीच। पूज्य, सामान्य तथा विशिष्ट व्यक्ति का गोत्र उच्च और अपूज्य, असमान्य तथा अवशिष्ट व्यक्ति का गोत्र नीच होता है। 'गोत्र' शब्द का यह व्यापक अर्थ है। यह गोत्र कर्म से सम्बन्धित है। साधारणतया गोत्र का अर्थ होता है—'वंश, कुल और जाति'[९]।

निर्धन, कुरूप और बुद्धिहीन व्यक्ति भी अमुक कुल या जाति में उत्पन्न होने के कारण बड़ा माना जाए, सत्कार और सम्मान पाए, यह जाति या कुल-प्रतिष्ठा है। इसी का नाम है—उच्च गोत्र। नीच गोत्र इसका प्रतिपक्ष है। मनुष्य उच्च गोत्री और नीच गोत्री दोनों प्रकार के होते हैं[१०]।

जाति और गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोड़कर कई जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि *'गोत्र कर्म के उच्च और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में बताए हैं'* तब जैन को जातिवाद का समर्थक क्यों नहीं माना जाए ? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है [११]। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियों का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है। हां, कर्म (आचारपरम्परा) गत जाति से वह किञ्चित् सम्बन्धित है[१२], उसी कारण यह विषय सन्दिग्ध बना हो अथवा राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में कुलगत जाति को गोत कहा जाता है, उस नाम-साम्य से दोनों को—गोत और गोत्रकर्म को एक समझ लिया हो। कुछ भी हो यह धारणा ठीक नहीं है।

'गोत्र शब्द' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है [१३]। उनमें अधिकांश का तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के द्वारा जीव माननीय, पूजनीय एवं सत्कारयोग्य तथा अमाननीय, अपूजनीय एवं असत्कारयोग्य बने, वह गोत्रकर्म है। कहीं-कहीं उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होना भी गोत्र-कर्म का फल बतलाया गया है, *किन्तु यहाँ उच्च-नीच कुल का अर्थ ब्राह्मण या शूद्र का कुल नहीं।* जो प्रतिष्ठित माना जाता है, वह उच्च कुल है और जो प्रतिष्ठा-हीन है, वह नीच कुल [१४]। समृद्धि की अपेक्षा भी जैनसूत्रों में कुल के उच्च-नीच—ये दो भेद बताये गए हैं [१५]। पुरानी व्याख्याओं में जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्तप्राय हैं। इन तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है, उस पर आश्रित है। यदि ऐसा माना जाए तो देव, नारक और तिर्यञ्चों के गोत्र-कर्म की क्या व्याख्या होगी, उनमें यह जाति-भेद की कल्पना है ही नहीं। हम इतने दूर क्यों जाएं, जिन देशों में वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहाँ गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी ? गोत्र-कर्म संसार के प्राणीमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रसंग में गोत्र-कर्म का फल क्या है, इसकी जानकारी अधिक उपयुक्त होगी।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयुष्य। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—सात वेदनीय-असात वेदनीय, शुभनाम-अशुभनाम, उच्चगोत्र नीचगोत्र, शुभआयु-अशुभआयु। मनचाहे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मिलना एवं सुखद मन, वाणी और शरीर का प्राप्त होना सातवेदनीय का फल है। असातवेदनीय का फल ठीक इसके विपरीत है। शुभ-आयु कर्म का फल है—सुखपूर्ण लम्बी आयु और अशुभ-आयु कर्म का फल है—ओछी आयु तथा दुःखमय लम्बी आयु। शुभ और अशुभ नाम होना क्रमशः शुभ और अशुभ नाम कर्म का फल है। जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं[१६]। नीच-गोत्र कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलों पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति में भी आठों प्रकृतियां 'उच्चगोत्र' की ही हों या 'नीचगोत्र' की ही हों, यह भी कोई नियम नहीं। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोग रहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्रकर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप में सात वेदनीय और असात वेदनीय का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च-नीच-गोत्र का भी। इस सारी स्थिति के अध्ययन के पश्चात् 'गोत्रकर्म' और 'लोक-प्रचलित जातियां' सर्वथा पृथक् हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

अब हमें गोत्र-कर्म के फलों में गिनाये गये जाति और कुल पर दूसरी दृष्टि से विचार करना है। यद्यपि बहुलतया इन दोनों का अर्थ व्यवहार सिद्ध जाति और कुल से जोड़ा गया है फिर भी वस्तु-स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं, केवल स्थूल दृष्टि से किया गया विचार या बोध-सुलभता के लिये प्रस्तुत किया गया उदाहरणमात्र है।

फिर एक बार उसी बात को दुहराना होगा कि जातिभेद सिर्फ मनुष्यों में है और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणीमात्र से है। इसलिए उसके फलरूप में

मिलनेवाले जाति और कुल ऐसे होने चाहिए, जो प्राणीमात्र से सम्बन्ध रखें। इस दृष्टि से देखा जाए तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक योनि में उत्पन्न होने वाले अनेक वर्ग[१७]। ये (जातियां और कुल) उतने ही व्यापक हैं जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति-स्थान, बड़ा भारी स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्वल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्चगोत्र'—विशिष्ट जन्म-स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्म-स्थान। जन्म-स्थान का अर्थ होता है—मातृपक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही वात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल में पितृपक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति-स्थान की विशेषता होती है और कुल में उत्पादक अंश की[१८]। 'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः[१९]' 'मातृसमुत्था जातिः[२०]', 'जाति गुणवन्मातृकत्वम्[२१]', 'कुल गुणवत्पितृकत्वम्[२२]"—इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं की हैं—वे सब जाति और कुल का सम्बन्ध उत्पत्ति से जोड़ती हैं।

तत्त्व-दृष्टि से जाति की असारता

कर्म-विपाक की दृष्टि से अर्थ का महत्त्व है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से वह अनर्थ का मूल है। यही वात जाति की है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोक्कस, ऐशिक (मांस-भोजी), वैशिक (कलाजीवी) और शूद्र—इनमें से किसी भी जाति के व्यक्ति हों, जो हिंसा और परिग्रह से वंधे हुए हैं, वे दुःख से मुक्ति नहीं पा सकते[२३]।

हरिकेशवल मुनि ने ब्राह्मणकुमारों से कहा—जो व्यक्ति क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्त और परिग्रह से घिरे हुए हैं, वे ब्राह्मण-जाति और विद्या से हीन हैं और वे पापकारी क्षेत्र हैं[२४]।

ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मचारी है[२५]।

ब्रह्मर्षि जयघोष विजयघोष की यज्ञस्थली में गए। दोनों में चर्चा चली। जातिवाद का प्रश्न आया। भगवान् महावीर की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मुनि वोले—"जो निसंग और निःशोक है और आर्य-वाणी में रमता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो तपे हुए सोने के समान निर्मल है, राग, द्वेष

और भय से अतीत है उसे ब्राह्मण कहते हैं, जो तपस्वी क्षीणकाय, जितेन्द्रिय, रक्त और मांस से अपचित सुव्रत और शान्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो क्रोध, लोभ, भय और हास्य-वश असत्य नहीं बोलता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो सजीव या निर्जीव थोड़ा या बहुत अदत्त नहीं लेता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो स्वर्गीय, मानवीय और पाशविक किसी भी प्रकार का अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल उससे ऊपर रहता है। उसी प्रकार जो काम-भोगों से ऊपर रहता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो अस्वाद-वृत्ति, निःस्पृहभाव से भिक्षा लेने वाले, घर और परिग्रह से रहित और गृहस्थ से अनासक्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो बन्धनों को छोड़कर फिर से उनमें आसक्त नहीं होता, उसे ब्राह्मण कहते हैं[२६]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये कार्य से होते हैं [२७]। तत्त्व-दृष्ट्या व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते हैं। कार्य-विभाग से मनुष्य का श्रेणी-विभाग होता है, वह उच्चता व नीचता का मानदण्ड नहीं है।

जाति गर्व का निषेध

यह जीव नाना गोत्र वाली जातियों में आवर्त करता है। कभी देव बन जाता है, कभी नैरयिक, कभी असुर काय में चला जाता है, कभी क्षत्रिय तो कभी चाण्डाल, और बोक्स भी। कभी कीड़ा और जुगुनू तो कभी कूंथू और चींटी बन जाता है। जब तक संसार नहीं कटता, तब तक यह चलता ही रहता है। अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी भूमिकाओं का संयोग मिलता ही रहता है [२८]। इसलिए उत्तम-पुद्गल, (उत्तम-आत्मा) तत्त्व-द्रष्टा और साधना-शील पुरुष जाति-मद न करे [२९]।

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है। पर यह कभी भी न बड़ा बना और न छोटा। इसलिये जाति-मद नहीं करना चाहिए। जो कभी नीच गोत्र में जाता है, वह कभी उच्च गोत्र में भी चला जाता है और उच्च गोत्री नीच गोत्री बन जाता है। यूं जानकर भी

भला कोई आदमी गोत्रवादी या मानवादी होगा ? यह प्राणी अनेक योनियों में जन्म लेता रहा है, तब भला वह कहाँ शुद्ध होगा।

जन्म-कुलों की विविधता और परिवर्तनशीलता जान पंडित आदमी सत्कारार्ह कुल पा उत्कर्ष न लाए और सत्कारहीन कुल पा अपकर्ष नहीं लाए। वह सोचे कि सत्कार और असत्कार अपने अर्जित कर्मों के विपाक हैं। सब प्राणी सुख चाहते हैं, इसलिए किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट न दें [३०]।

एक जन्म में एक प्राणी अनेक प्रकार की ऊंच नीच अवस्थाएं भोग लेता है। इसीलिए उच्चता का अभिमान करना उचित नहीं है [३१]।

जो साधक जाति आदि का मद करता है, दूसरों को परछाई की भांति तुच्छ समझता है, वह अहंकारी पुरुष सर्वज्ञ-मार्ग का अनुगामी नहीं है। वह वस्तुतः मूर्ख है, पण्डित नहीं है [३२]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र और लिच्छवी—इन विशिष्ट अभिमानास्पद कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति दीक्षित होकर अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता। वही सर्वज्ञ-मार्ग का अनुगामी है। जो भिक्षु परदत्त-भोजी होता है, भिक्षा से जीवन-यापन करता है, वह भला किस बात का अभिमान करे।

अभिमान से कुछ बनता नहीं, बिगड़ता है। जाति और कुल मनुष्यों को त्राण नहीं दे सकते। दुर्गति से बचाने वाले दो ही तत्त्व हैं। वे हैं—विद्या और आचरण (चरित्र)।

जो साधक साधना के क्षेत्र में पैर रखकर भी गृहस्थ-कर्म का आसेवन करता है, जाति आदि का मद करता है, वह पारगामी नहीं बन सकता [३३]।

साधना का प्रयोजन मोक्ष है। वह अगोत्र है। उसे सर्व-गोत्रापगत (जाति गोत्र के सारे बन्धनों से छूटे हुए) महर्षि ही पा सकते हैं [३४]।

जाति-सम्पन्न (जाति-श्रेष्ठ) कौन ? बड़े कुल में पैदा होने मात्र से कोई पुरुष कुलीन नहीं होता। जिसका शील ऊंचा है, वही कुलीन है [३५]।

जो पुरुष पेशल (मिष्ट-भाषी) है, सूक्ष्म (सूक्ष्म-दर्शी या सूक्ष्म-भाषी) है, ऋजुकार (संयमशील) या ऋजुचार (बड़ों की शिक्षा के अनुसार बरतने वाला) है, तथाच (उलाहना सुनकर भी चित्त-वृत्ति को अक्षुब्ध रखने वाला)

है, मध्यस्थ (निन्दा और स्तुति में सम) हैं, अझंझा-प्रावृत (अक्रोधी और अमायी) है, वही जाति-सम्पन्न है [३६]।

जाति-मद का परिणाम

भगवान् ने तेरह क्रिया-स्थान (कर्म-बन्ध के कारण) बतलाए हैं, उनमें नौवां क्रिया स्थान 'मान-प्रत्ययिक' है। कोई पुरुष जाति, कुल बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य और प्रजा के मद अथवा किसी दूसरे मद-स्थान से उन्मत्त होकर दूसरों की अवहेलना, निन्दा और गर्हणा करता है, उनसे घृणा करता है, उन्हें तिरस्कृत और अपमानित करता है—यह दीन है, मैं जाति, कुल, बल आदि गुणों से विशिष्ट हूँ—इस प्रकार गर्व करता है, वह अभिमानी पुरुष मरकर गर्भ, जन्म और मौत के प्रवाह में निरन्तर चक्कर लगाता है। क्षण भर भी उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती [३७]।

जाति परिवर्तनशील है

जातियां सामयिक होती हैं। उनके नाम और उनके प्रति होने वाला प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का भाव बदलता रहता है। जैन-आगमों में जिन जाति, कुल और गोत्रों का उल्लेख है, उनका अधिकांश आज उपलब्ध भी नहीं है।

(१) अंबष्ठ (२) कलन्द (३) वैदेह (४) वैदिक (५) हरित (६) चुंचुंण—ये छह प्रकार के मनुष्य जाति-आर्य या इभ्य जाति वाले हैं [३८]।

(१) उग्र (२) भोग (३) राजन्य (४) इक्ष्वाकु (५) ज्ञात (६) कौरव—ये छह प्रकार के मनुष्य कुलार्य है [३९]।

(१) काश्यप (२) गौतम (३) वत्स (४) कुत्स (५) कौशिक (६) मण्डव (७) विशिष्ट—ये सात मूल गोत्र हैं। इन सातों में से प्रत्येक के सात-सात अवान्तर भेद हैं [४०]।

वर्तमान में हजारों नई जातियां बन गई हैं ? इनकी यह परिवर्तनशीलता ही इनकी अतात्त्विकता का स्वयं सिद्ध प्रमाण है।

पुरुष त्रिवर्ग

पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य। उत्तम पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) धर्म पुरुष (तीर्थंकर, सर्वज्ञ)

(२) भोग-पुरुप (चक्रवर्ती) (३) कर्म-पुरुप (वासुदेव)। मध्यम पुरुप तीन प्रकार के होते हैं—(१) उग्र (२) भोग (३) राजन्य।

जघन्य पुरुप भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) दास (२) भृतक (कर्मकर) (३) भागीदार।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोण हैं। ये सब सापेक्ष हैं। बहुल-भाग में इन सारे प्रकरणों को सामयिक व्यवस्था का चित्रण कहना ही अधिक संगत होगा[४१]।

चतुर्वर्ग

(१) एक व्यक्ति जाति-सम्पन्न (शुद्ध मातृक) होता है, कुल सम्पन्न (शुद्ध पितृक) नहीं होता, (२) एक व्यक्ति कुल-सम्पन्न होता है, जाति-सम्पन्न नहीं होता, (३) एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से सम्पन्न होता है और (४) एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से ही सम्पन्न नहीं होता[४२]।

जाति और कुल-भेद का आधार मातृ प्रधान और पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था भी हो सकती है। जिस कुटम्ब के संचालन का भार स्त्रियों ने वहन किया, उनके वर्ग 'जाति' कहलाए और पुरुषों के नेतृत्व में चलने वाले कुटुम्बों के 'वर्ग' कुल कहलाए।

सन्तान पर पिता-माता के अर्जित गुणों का असर होता है। इस दृष्टि से जाति और कुल का विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

कुल के पीछे उंच-नीच[४३], मध्यम उदग्र[४४], (उन्नत), अन्त[४५], प्रान्त, तुच्छ, दरिद्र, भिक्षुक, कृपण, आढ्य, दीप्त (प्रसिद्ध), बहुजन-अपरिभूत आदि विशेषण लगते हैं, वे निरर्थक नहीं हैं। ये व्यक्ति की पौद्गलिक स्थिति के अंकन में सहयोगी बनते हैं। दक्षिण की कुछ जातियों में आज भी मातृ-प्रधान कुटुम्ब हैं।

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूपसे चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं—एक ब्राह्मण-परम्परा की, दूसरी श्रमण-परम्परा की। पहली परम्परा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना

जातिः' का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जातिः' यह पक्ष सामने रक्खा। इस जन-जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बड़ी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को बहुत सजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण-परम्परा में जहाँ "ब्रह्मा" के मुंह से जन्मने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्मने वाले क्षत्रीय, ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरों से जन्मने वाले शूद्र और अन्त में पैदा होने वाले अन्त्यज[४६]"—यह व्यवस्था थी, वहाँ श्रमण-परम्परा ने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुसार होते हैं[४७]"—यह आवाज बुलन्द की। श्रमण-परम्परा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाएं शिथिल अवश्य हुई पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परम्परा पर भी गहरी छाप पड़ी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर में पैदा होने वाले व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए[४८], इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है।" यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यों में जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त में छुआछूत तक पहुँच गए। इसके लिए राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने भी काफी आन्दोलन किया। उसके कारण आज भी यह प्रश्न ताजा और सामयिक बन रहा है। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौन-सी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है,[४९] जिसमें एक ऐसी समान शृङ्खला हो, जो दूसरों में न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य-मनुष्य में समानता है और वह अन्य प्राणियों से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बड़ी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमें भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इनमें प्रादेशिक भेद हैं पर 'वे मनुष्य हैं' इसमें क्या अन्तर है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जल-वायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा

के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोई बंगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई इस्लाम, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है, कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमें जो-जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग में समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियों में रहने के कारण अनेक वर्गों में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की भाषा, वर्ण, धर्म कर्म एक से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदों के कारण मनुष्य-जाति में इतना संघर्ष बढ़ गया है कि मनुष्यों को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बड़े-बड़े संग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है। वर्ण-भेद के कारण अफ्रीका में जो कुछ हो रहा है, वह मानवीय तुच्छता का अन्तिम परिचय है। धर्म-भेद के कारण सन् ४८ में होने वाला हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष मनुष्य के शिर कलंक का टीका है। कर्म-भेद के कारण भारतीय जनता के जो छुआछूत का कीटाणु लगा हुआ है। वह मनुष्य-जाति को पनपने नहीं देता। ये सब समस्याएं हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य-जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने की आवश्यकता है—मनुष्य-जाति एक है—धर्म जाति-पांति से दूर है—इसको हृदय में उतारने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह रहा कि जाति तात्त्विक है या नहीं? इसकी मीमांसा करने से पहले इतना-सा और समझ लेना होगा कि इस प्रसंग का दृष्टिकोण भारतीय अधिक है, विदेशी कम। भारतवर्ष में जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितों ने उसके प्रमुख विभाग चार बतलाए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति मानने वाली ब्राह्मण-परम्परा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परम्परा के मतानुसार ये अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चयदृष्टि में जाएं तो तात्त्विक मनुष्य-जाति है [५०]। 'मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है' पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं। कर्म के अनुसार जाति है [५१]। कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है। रत्नप्रभसूरि ने बहुत सारे

शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार-दृष्टि में—ब्राह्मण कुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण, वैश्य कुल में जन्म लेनेवाला वैश्य ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता; कारण कि ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्यकुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाए, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियों की सूझ है, उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार (आदान-प्रदान) और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए इन्होंने चार वर्ग बनाए और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिए। विद्यायुक्त सदाचार प्रधान ब्राह्मण, रक्षाप्रधान क्षत्रिय, व्यवसायप्रधान वैश्य और शिल्प प्रधान शूद्र? ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाए तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाए, तब भी इतना-सा तो कहना ही होगा कि जहाँ यह जातिगत अधिकार के रूप में कर्म को विकसित करने की योजना है, वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी। एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् है, फिर भी वह पढ़ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है। 'शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है'[२३]—यह इस समाज-व्यवस्था एवं तद्गत धारणा का महान् दोष है, इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण में समाज की उन्नति एवं विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमें जो बुराइयां आईं, वे और भी इसका अंगभंग कर

देती हैं। एक वर्ग का अहंभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। । सामयिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे शूद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्याप्रधान, आचारप्रधान बने। क्या वे सही अर्थ में ब्राह्मण नहीं? क्या वह सही अर्थ में अन्त्यज नहीं? वर्णों के ये गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए काफी पुष्ट प्रमाण हैं।

कौन-सी जाति ऊँची और कौन-सी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नहीं दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहुसंख्यकों के आचार-विचार सुसंस्कृत और संयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है[५३]। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मानदण्ड है। किन्तु इस दिशा में दोनों की संगति नहीं होती। वास्तविक दृष्टि में जहाँ संयम की प्रधानता रहती है, वहाँ व्यवहार-दृष्टि में अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालों का इसके विरुद्ध संघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपनेवाली बुराइयों का प्रतिकार है।

जैनों और बौद्धों की क्रान्ति का ब्राह्मणों पर प्रभाव पड़ा; यह पहले बताया गया है। जैन-आचार्य भी जातिवाद से सर्वथा अछूते नहीं रहे—यह एक तथ्य है, इसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर कुछ जातिवाद का असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

घृणा पाप से करो पापी से नहीं

जो सम्यक्-दृष्टि है, जिन्हें देह और जीव में द्वैध-दर्शन की दृष्टि मिली है, वे देह-भेद के आधार पर जीव-भेद नहीं कर सकते। जीव के लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के देह-भेद के आधार पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए [५४]।

जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवों में भेद मानते हैं, वे ज्ञान दर्शन और चारित्र को जीव का लक्षण नहीं मानते।

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चाण्डाल हो, किन्तु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं [५५]।

जाति के गर्व से गर्वित ब्राह्मण चाण्डाल-मुनि के तपोबल से अभिभूत हो गए। इस दशा का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—यह आँखों के सामने है—तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नहीं है। जिसकी योग विभूति और सामर्थ्य अचम्भे में डालने वाली है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है [५६]।

जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसका फलित यह होता है—जो असत्य का आचरण नहीं करते, वे नहीं हैं [५७]।

श्रमण का उपासक हर कोई बन सकता है। उसके लिए जाति का बन्धन नहीं है। श्रावक के शिर में मणि जड़ा हुआ नहीं होता। जो अहिंसा सत्य का आचरण करता है वही श्रावक है, भले फिर वह शूद्र हो या ब्राह्मण।

सात

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता, ध्यान संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है वह भगवान् के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला—

"भन्ते। पहले लोक हुआ और फिर अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक?"

भगवान्—"रोह! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।

रोह—भन्ते! पहले अजीव हुए और फिर जीव? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव?

भगवान्—रोह! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इनमें भी पौर्वापर्य नहीं है।

रोह—भन्ते! (१) पहले भव्य हुए और फिर अभव्य अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य? (२) भन्ते! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (संसार)? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि? (३) भन्ते! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (संसारी)? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध?

भगवान्—रोह! ये सभी शाश्वत भाव हैं।

रोह—भन्ते पहले मुर्गी हुई फिर अंडा हुआ? अथवा पहले अंडा हुआ फिर मुर्गी?

भगवान्—अण्डा किससे पैदा हुआ?

रोह—भन्ते! मुर्गी से।

भगवान्—रोह ! मुर्गी किससे पैदा हुई ?

रोह—भन्ते ! अण्डे से।

भगवान्—इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं और पीछे भी हैं। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है[1]।

लोक अलोक

जहाँ हम रह रहे हैं वह क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई लगाव नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है[2]। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति, परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वहीं होती हैं, जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्यों की सह-स्थिति है, वह लोक है[3]। पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है, वह लोक है[4]। संक्षेप में जीव और अजीव की सह-स्थिति है, वह लोक है[5]।

लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और है नहीं। आकाश स्वयं विभज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता[6]। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को दिग्रूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र की गति क्रिया से होने वाला समय विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है[7]। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नहीं बनते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। बस ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहाँ तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति, स्थिति का सहाय्य नहीं मिलता, इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के बिना स्थिति का प्रश्न ही क्या? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह राजू परिमाण परिमित हैं[८]। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। भौतिक विज्ञान के उद्‌भट पण्डित अलबर्ट आइन्स्टीन ने लोक-अलोक का जो स्वरूप माना है, वह जैन-दृष्टि से पूर्ण सामन्जस्य रखता है। उन्होंने लिखा है कि—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है[९]। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" स्कन्धक संन्यासी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि क्षेत्र—लोक सान्त है[१०] (सीमित है) धर्मास्तिकाय, जो गति में सहायक होता है,[११] वह लोक-प्रमाण है[१२]। इसीलिए लोक के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शरावों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रहने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिसरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकड़ा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है।

उसका कोई विभाग नहीं होता। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है[13]—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह राजू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात राजू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात राजू से कुछ अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न-भिन्न आकृतियां बनती हैं[14]। धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत हैं और कहीं संकुचित। नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त है अतः अधोलोक का आकार औंधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उनका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्व मुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात राजू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक[15]। द्रव्यलोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है[16]। लोक की परिधि असंख्य योजन कोड़ाकोड़ी की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सात है[17]।

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास (Diametre) एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाश वर्ष माना है। "एक प्रकाश वर्ष दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है।"

भगवान् महावीर ने देवताओं की "शीघ्रगति" की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची) में चले[18]। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा···उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढियां बीत गईं। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। हाँ, वे चलते-

चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो[१९]।

लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्याएं अनन्त हैं तथा बादर-स्कन्धों की गुरु लघु पर्याएं, सूक्ष्म स्कन्धों और अमूर्त द्रव्यों की अगुरु लघु पर्याएं अनन्त हैं। इसलिए भाव लोक अनन्त है।

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

आर्य रोह—भगवन्! पहले लोक और फिर अलोक बना अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना?

भगवान्—रोह! ये दोनों शाश्वत हैं। इनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है[२०]।

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भंते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान् गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं। वे यों हैं:—

(१) वायु आकाश पर टिकी हुई है।

(२) समुद्र वायु पर टिका हुआ है।

(३) पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।

(४) त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।

(५) अजीव-जीव के आश्रित हैं।

(६) सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।

(७) अजीव जीवों द्वारा संगृहीत है।

(८) जीव कर्म-संगृहीत हैं[२१]।

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधाराधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव (पुद्गल) में आधाराधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव ये दोनों हैं।

जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

जीव-अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्हीं की संयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यों का आपस में संग्राह्य-संग्राहक भाव नहीं है।

लोक-स्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य-संग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

जैन दर्शन सर्वथा असृष्टिवादी भी नहीं है। वह परिवर्तनात्मक सृष्टिवादी भी है।

सृष्टिवाद के दो विचार-पक्ष हैं। एक विचार असत् से सत् की सृष्टि मानता है। दूसरा सत् से सत् की सृष्टि मानता है।

जैन दर्शन दूसरे प्रकार का सृष्टिवादी है। कई दर्शन चेतन से अचेतन[२२] और कई अचेतन से चेतन की सृष्टि मानते हैं [२३]। जैन दर्शन का मत इन दोनों के पक्ष में नहीं है।

जैन दर्शन सृष्टि के बारे में वैदिक ऋषि की भांति संदिग्ध भी नहीं है [२४]।

चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। दोनों अनादि-अनन्त हैं।

विश्व का वर्गीकरण

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण (१) द्रव्य (२) गुण (३) परिमाण (४) सम्बन्ध (५) दिशा (६) काल (७) आसन (८) स्थिति (९) कर्म (१०) परिणाम—इन दस पदार्थों में किया।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह तत्त्वों में करते हैं।

जैन-दृष्टि से विश्व छह द्रव्यों में वर्गीकृत है। छह द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म,

आकाश, काल, पुद्गल और जीव। काल के सिवाय शेष पांच द्रव्य अस्ति-काय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रवेश-समूह—अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा, परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता। इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य हैं। उसका शुद्ध रूप परमाणु है। वह अविभागी है। परमाणुओं में संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अतः उनके स्कन्ध बनते हैं और उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी हैं। वह धर्म द्रव्यों की तरह एक व्यक्ति नहीं, किन्तु अनन्त व्यक्तिक है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशों का होता है। द्व्यणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है। जीव भी अनन्त व्यक्ति हैं। किन्तु प्रत्येक जीव असंख्य प्रदेशी है। काल न प्रदेश है और न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश नहीं, इसलिए उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। काल वास्तविक वस्तु नहीं तब द्रव्य क्यों? इसका समाधान यह है कि वह द्रव्य की भांति उपयोगी है—व्यवहार प्रवर्तक है, इसलिए उसे द्रव्य की कोटि में रखा गया है। वह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहा-रिक। पांच अस्तिकाय का जो वर्तमान-रूप परिणमन है, वह नैश्चयिक है, ज्योतिष की गति के आधार पर होने वाला व्यावहारिक। अथवा वर्तमान का एक समय नैश्चयिक और भूत, भविष्य व्यावहारिक। बीता हुआ समय चला जाता है और आने वाला समय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ये दोनों अविद्यमान होने के कारण व्यावहारिक या औपचारिक हैं। क्षण, मुहूर्त्त, दिन रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि सब भेद व्यावहारिक काल के होते हैं। दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आकाश के काल्पनिक खण्ड का नाम दिग् है [२५]।

द्रव्य

भूत और भविष्य का संकलन करने वाला (जोड़ने वाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसका अर्थ

यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक वार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। वह एक ही अवस्था में रहती आई है या रहेगी—ऐसा नहीं होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नहीं मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी वस्तु के मौलिक रूप और शक्ति का नाश नहीं होता। दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याएं (अवस्थाएं) होती हैं। द्रव्य-शब्द की उत्पत्ति करते हुए कहा है—"अद्रुवत् द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्"—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि अवस्थाएं उसीमें उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य (समानता) के विना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। हम कुछ और सरलता में जाएं तो द्रव्य की यह भी परिभाषा कर सकते हैं कि—"पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।" संक्षेप में "सद् द्रव्यम्"—जो सत् है वह द्रव्य है [२६]। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य में परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप से द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है, जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी-नित्य है।

परिणामी नित्यत्ववाद

परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्‌विदामिष्टः ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ?" ॥ २ ॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है। इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथंचित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है। दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक बन जाता है। जिसको हम दूसरे शब्दों में परिणामी-नित्य या कथंचित्-नित्य कहते हैं।

आगम की भाषा में जो गुण का आश्रय-अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है—वही द्रव्य है। इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक दोनों में समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (यावत् द्रव्यभावी)—गुण और क्रमभावी-पर्याय। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैन-दर्शन इन दोनों का समन्वय कर परिणामि नित्यत्ववाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य

उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी, तथा इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है', का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए 'परिणामि-नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् १७८६ में Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणतः नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल के आक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्वोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहाँ कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाई में जंग लग जाता है, यह क्या है? यहाँ भी जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के आक्सीजन के संयोग से लोहे के आक्सी-हाइड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में वदल देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तनशील नहीं, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, सिर्फ ये एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं। जैन दर्शन में मातृपदिका का सिद्धान्त भी यही है[२७]।

उत्पादध्रुवविनाशैः, परिणामः क्षणे-क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते[२८]॥

उत्पाद; ध्रुव और व्यय – यह त्रिविध लक्षण द्रव्यों का परिणाम प्रतिक्षण अविरोधतया होता रहता है—इन शब्दों में और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है" इनमें कोई अन्तर् नहीं है। वस्तु-दृष्ट्या संसार में जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओं से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं—एक ध्रुव द्रव्य की, दो—पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्म-दृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष नाश का हेतु है। स्थूल-दृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामि-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामि-नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामि-नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामि-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है[२९]।

धर्म और अधर्म

जैन साहित्य में जहाँ धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में होता है, वहाँ दो द्रव्यों के अर्थ में भी—धर्म—गतितत्त्व, अधर्म—स्थितितत्त्व। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति नहीं मानी है। वैज्ञानिकों में सब से पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है

कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है [३०]। जहाँ वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहाँ ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका में शब्द की गति होने में यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त होते हैं, गति-शब्द केवल सांकेतिक है [३१]। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म, अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा :—

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	[३२] एक और व्यापक	[३३] लोक प्रमाण	अनादि-अनन्त	अमूर्त्त	गति सहायक
अधर्म	,,	,,	,,	,,	स्थिति सहायक

धर्म अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियां हैं—(१) गतिस्थितिनिमित्तक द्रव्य और (२) लोक, अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त—इन दो कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनों स्वयं हैं। निमित्त कारण किसे माने? यह प्रश्न सामने आता है, तब हमें ऐसे द्रव्यों की आवश्यकता होती है, जो

गति एवं स्थिति में सहायक वन सकें। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है, इसलिए हमें ऐसी शक्तियों की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो[३४]। इस यौक्तिक आधार पर हमें धर्म, अधर्म की आवश्यकता का सहज वोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डाले, तव भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरी ने इनका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके विना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती[३५]।"

लोक है इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्क-शास्त्र का नियम है कि "जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट-घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है[३६]।"

जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है[३७] और जहाँ केवल आकाश ही आकाश हाता है, वह अलोक है[३८]। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते, इसका कारण है—वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक वनते हैं। "आकाश लोक और अलोक दोनों में तुल्य है,[३९] इसीलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

गौतम—"भगवन्! गति सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—"गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगे कैसे फैलती? आंख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन वोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है उन सव का आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है[४०]।"

गौतम—"भगवन्! स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?"

भगवान्—"गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता? कौन बैठता सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सब का आलम्बन स्थिति-सहायक तत्व ही है [४१]।"

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं[४२]।

आकाश और दिक

"धर्म और अधर्म का अस्तित्व जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नहीं है।" आकाश और दिक् के बारे में भी अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते।

कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में से एक माना है[४३]।

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है, उसे आकाश और जो वाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्याय कारिकावली के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं।

दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्यादिगुच्यते (४६)

उपाधिभेदादेकापि, प्राच्यादि व्यपदेशभाक् (४७)

कणाद सूत्र (२।२।१३) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है तो आकाश कहलाता है और यदि वह ग्राह्य-जगत् के अर्थों के देशस्थ होने का कारण बनता है तो दिक् कहलाता है।

अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश-धातु का कार्य रूपपरिच्छेद (ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् रूपों का विभाग) करना—है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसीका काल्पनिक

विभाग है, आकाश का गुण शब्द नहीं है। शब्द-पुद्गलों के संघात और भेद का कार्य है [४४]। आकाश का गुण अवगाहन है, वह स्वयं अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यों का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ है। किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए उसे सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं [४५]।

गौतम—भगवन्! आकाश-तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! आकाश नहीं होता तो—ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ वरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता?—यह विश्व निराधार ही होता [४६]।

द्रव्य-दृष्टि—आकाश-अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र-दृष्टि—आकाश-अनन्त विस्तार वाला है—लोक-अलोकमय है।

काल-दृष्टि—आकाश-अनादि अनन्त है।

भाव-दृष्टि—आकाश अमूर्त्त है।

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है [४७]।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधः दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है फिर उनमें वृद्धि नहीं होती [४८]। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप-दिशा कहा जाता है [४९]।

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किये होता है वह पूर्व, उसके पृष्ठ भाग

पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है [५०]।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तु-वृत्या वह जीव और अजीव की पर्याय है [५१]। जहाँ इसके जीव अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य भी कहा गया है [५२]। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—"उपकारकं द्रव्यम्।" वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादिरूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है [५३]।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं [५४]। वैदिक दर्शनों में भी काल के सम्बन्ध में—नैश्चियक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं [५५]। योग सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते [५६]।

कालवाद का आधार

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पांच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [५७]। न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग है [५८]। वैशेषिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं [५९]।

कालाणुओं के अस्तित्व का आधार

एगम्हि संति समये, सम्भव ठिइणास सण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकाल, एसहि कालाणु सब्भावो—प्रव० १४३

एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।

विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार—आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन दिशाओं—लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में माना।

वस्तु का रेखागणित (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों काल बीतता है त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु धर्म हैं [६०]।

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध रूप में हैं, इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कन्ध हैं। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। ये अविभागी हैं। पुद्गल विभागी हैं। उसके स्कन्ध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं उतने प्रदेशों का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ का परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धों को परमाणु जितने विभाग किए जाए तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। इसलिए आकाश को अनन्त प्रदेशी और शेष तीनों को असंख्य प्रदेशी कहा है। देश बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं बताया जा सकता।

	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्य
अधर्म	एक	अनियत	असंख्य
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल	अनन्त (द्वि प्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्य

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। काल-शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। और ऊर्ध्व प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश-समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे

निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती[६१]। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायु निर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल[६२]।

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायु-निर्वृत्तिकाल और उसके अन्त को मरण काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनों इसीके विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक में ही होता है। इसीलिए मनुष्य-लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय-काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है। उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा-काल के हैं[६३]। इसका सर्व सूक्ष्म भाग समय कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमल-पत्र भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है।

(क) एक दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तों को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पते साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नहीं। जिस समय पहला पत्ता छिदा, उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और वलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नहीं फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रूएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रूआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रूआ छिदता है। अनन्त परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातों का एक समुदय और अनन्त समुदयों की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रूएं के छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग (हिस्सा) समय कहलाता है।

अविभाज्य काल —एक समय

असंख्य समय —एक आवलिका

२५६ आवलिका —एक क्षुल्लक भव (सब से छोटी आयु)

२२२३ $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका—एक उच्छ्वास निःश्वास

४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या

साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास } —एक प्राण

७ प्राण —एक स्तोक

७ स्तोक —एक लव

३८॥ लव —एक घड़ी (२४ मिनट)

७७ लव —दो घड़ी। अथवा,
—६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
—१६७७७२१६ आवलिका अथवा,
—३७७३ प्राण। अथवा,
—एक मुहूर्त्त (सामायिक काल)

३० मुहूर्त्त —एक दिन रात (अहो रात्रि)

१५ दिन —एक पक्ष

२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन
२ अयन	—एक साल
५ साल	—एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़ वर्ष	—एक पूर्व
असंख्य वर्ष	—एक पल्योपम[६४]
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	—एक सागर
२० क्रोड़ाक्रोड़ सागर	—एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	—एक पुद्‌गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न-वर्तमान और अनागत कहा जाता है।

पुद्‌गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्‌गल संज्ञा दी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्‌गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतनासन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रों में भी अभेदोपचार से पुद्‌गल युक्त आत्मा को पुद्‌गल कहा है[६५]। किन्तु मुख्यतया पुद्‌गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं—यानी अवयवी हैं, किन्तु फिर भी इन सबकी स्थिति एक सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। पुद्‌गल अखंड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित महास्कन्ध[६६]। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-बड़ा सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया इनको पौद्‌गलिक मानना जैन तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतन्त्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाए हैं[६७] :—

१—परमाणु-पुद्गल।

नो परमाणु-पुद्गल—द्वयणुक आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्व-वेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानों का खयाल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं। यूनान में परमाणुवाद का जन्म-दाता डिमोक्रिटस् हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिटस् के मतानुसार आत्म-सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। इस विषय में 'दर्शन-शास्त्र का इतिहास' पुस्तक के लेखक का मत मननीय है [६८]। उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन दर्शन को मिलना चाहिए। उपनिषद में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पाई जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई० पू० के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है [६९]। आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु

के उपलक्षणों में सन्देह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम+अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन-सूत्र अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है[७०]—

१ सूक्ष्म परमाणु।

२ व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदय से बनता है[७१]। वस्तुवृत्त्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता, थोड़े में उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

स्पर्श—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

ये बीस पुद्गल के गुण हैं।

यद्यपि संस्थान—परिमंडल, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश आदि पुद्गल में ही होता है, फिर भी उसका गुण नहीं है[७२]।

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वैसा नहीं है[७३]। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं[७४]। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त

गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक रह सकता है [७५]। द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु पुद्गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण विषयक नियम गन्ध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। फिर भी अमूर्त नहीं है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त्त होते हुए भी दृष्टि-गोचर नहीं होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा। तो परमाणु को जानते ही हैं; चाहे वे संसार-दशा में हों, चाहे सिद्ध हो। अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी—जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है, परमाणु को जान भी सकता है, नहीं भी। अवधिज्ञानी—रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष वाला योगी उसे जान सकता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति नहीं जान सकता [७६]।

एक प्राचीन श्लोक में उक्त लक्षण-दिशा का संकेत मिलता है—

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

परमाणुसमुदय—स्कन्ध और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत्—पौद्गलिक जगत् परमाणुसंघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघातक और विघातक—ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है [७७]। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारणकि पुद्गल की अवस्थाएं

सादि, सान्त होती है; अनादि, अनन्त नहीं [७८]। पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं करपाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदयजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं [७९]।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं [८०]।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं —

१—एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध।

२—दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।

३—दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

४—चारों पृथक्-पृथक परमाणु।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी [८१]। द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु संघात रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी [८२]।

पुद्गल की द्विविधा परिणति

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है —

१—सूक्ष्म।

२—वादर।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रियग्राह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श वादर परिणाम वाले चार स्कन्धों में ही होते हैं,। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत व स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की विवृति के साथ-साथ जहाँ स्थूल परिणति होती है, वहाँ चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं।

पुद्गल के विचार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है [८३]:—

१—स्कन्ध

२—स्कन्ध-देश

३—स्कन्ध-प्रदेश

४—परमाणु

स्कन्ध—परमाणु-प्रचय। देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग। प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश। परमाणु—स्कन्ध से पृथग् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव और अपृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्गल कबसे और कब तक?

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि अपर्यवसित हैं। कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा यह सादि सपर्यवसान भी है। जैसे परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं।

परमाणु परमाणु के रूप में, स्कन्ध स्कन्ध के रूप में रहें तो कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं [८४]। बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। यह इनकी कालसापेक्ष स्थिति है। क्षेत्रसापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध के एक क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल लगता है [८५]। और द्व्यणुकादि स्कन्धों के परमाणुरूप में अथवा त्र्यणुकादि स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारण-वश वहाँ से चल पड़े, फिर उसी आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ जाते हैं [८६]। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं। यावत्—समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक में फैल जाने वाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध—द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं [८७]। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, वह तत्परिमाणप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है।

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परमाणु

द्रव्य की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परिणमन के तीन हेतु[८८]

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं :—

१—वैस्रसिक

२—प्रायोगिक

३—मिश्र

स्वभावतः जिनका परिणमन होता है वे वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो वनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—

१—प्रायोगिक परिणाम—जीवच्छरीर

२—मिश्र परिणाम—मृत शरीर

३—वैस्रसिक परिणाम—उल्कापात

इनका रूपान्तर असंख्य काल के वाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य में एक ग्रहण नाम का गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नहीं है। पुद्गल का आपस में मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ संलग्न होता है। जीव-सम्वद्ध पुद्गल का जीव पर वहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप में आगे उल्लेख किया जाएगा।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सव पौद्गलिक होते हैं ही, किन्तु विशेष ध्यान देने की वात यह है कि वे सव जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस कायिक जीवों के शरीर या शरीरमुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं, जो विस्रसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप में सम्वद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं [८१]। वैशेषिकों की तरह जैन-दर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथग् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सव में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, ये सभी गुण रहते हैं।

पुद्गल की गति

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, सिर्फ सहायक है। दूसरे शब्दों में गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है[१०]।

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है[११] और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित् नहीं। उनमें न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणु-स्कन्ध में कदाचित् कम्पन कदाचित् अकम्पन होता है। वे द्व्यंश होते हैं, इसलिए उनमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध में कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एक वचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों का भेद होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों (दो) में कम्प नहीं होता। देशों (दो) में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता।

चतुः प्रदेशी स्कन्ध में देश में कम्प, देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों (दो) में अकम्प, देशों (दो) में अकम्प और देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों में अकम्प होता है।

पाँच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं[१२]।

द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

समसंख्यक परमाणु-स्कन्धों की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है और विषम-संख्यक परमाणु स्कन्धों की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध की तरह।

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है[१३]—

१—द्रव्य स्थानायु
२—क्षेत्र स्थानायु
३—अवगाहन स्थानायु
४—भाव स्थानायु

१—परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह द्रव्य स्थानायु है।

२—जिस आकाश-प्रदेश में परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र स्थानायु।

३—परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण में जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन स्थानायु।

क्षेत्र और अवगाहन में इतना अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशों से है, वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ़ होता है तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्गल द्रव्य से है। तात्पर्य, कि उनका अमुक-परिमाण क्षेत्र में प्रसरण होता है।

४—परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति को भाव स्थानायु कहा जाता है।

परमाणुओं का श्रेणी-विभाग

परमाणुओं की आठ मुख्य वर्गणाएं (Qualities) हैं :—

१—औदारिक वर्गणा
२—वैक्रिय वर्गणा
३—आहारक वर्गणा
४—तैजस वर्गणा
५—कार्मण वर्गणा
६—श्वासोछ्वास वर्गणा
७—वचन वर्गणा
८—मन वर्गणा

औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल-समूह।

वैक्रिय वर्गणा—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

तैजस वर्गणा—विद्युत-परमाणु-समूह (Electrical Molecues)

कार्मण वर्गणा—जीवों की अत् असत् क्रिया के प्रतिफल में बनने वाला पुद्गल-समूह

श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण योग्य पुद्गल-समूह

वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।

मन वर्गणा—चिन्तन में सहायक बनने वाला पुद्गल-समूह।

इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अति प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन होता है। वर्गणा का वर्गणान्तर के रूप में परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाएं चतुःस्पर्शी—सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुःस्पर्शी और अष्ट-स्पर्शी दोनों प्रकार के होते हैं।[१४]

परमाणु-स्कन्ध की अवस्था

परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं, तब उनकी दस अवस्थाएँ—कार्य हमें उपलब्ध होती हैं :—

१—शब्द[१५]

२—बन्ध

३—सौक्ष्म्य

४—स्थौल्य

५—संस्थान

६—भेद

७—तम

८ छाया

९ आतप

१० उद्योत

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं :—

१ प्रायोगिक[९६]

२ मिश्र

३ वैस्रसिक

इनका क्रमशः अर्थ है—जीव के प्रयत्न से बनने वाली वस्तुएं जीव, के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से बनने वाली वस्तुएं तथा स्वभाव से बनने वाली वस्तुएं।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति,[९७] शीघ्रगति,[९८] लोक व्यापित्व,[९९] स्थायित्व, आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है[१००]। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है[१०१]—यह विवेचन उस समय का है जबकि 'रेडियो' वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र में लोकव्यापी बन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर रहित), नो भाषा शब्द (आतोद्य शब्द और नो आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद हैं।

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और तीसरी अवस्था है उत्सर्जन[१०२]। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मन्द हैं तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरंग-न्याय' से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते अति सूक्ष्म काल में लोकान्त तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों—आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊंचे और नीचे छहों दिशाओं में हैं।

हम शब्द की सम श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यों को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं [१०३]।

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्म है और अचित्त-महास्कन्ध स्थूल है। इनके मध्यवर्त्ती सौक्ष्म्य और स्थौल्य आपेक्षिक हैं—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागों में विभक्त करते हैं :—

१—वादर-वादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वयं न जुड़े।
२—वादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएं।
३—सूक्ष्म वादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य हैं।
४—वादर सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर इन्द्रिय गम्य हैं।
५—सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा आदि जो इन्द्रियातीत हैं।
६—सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा से भी अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध।

वन्ध

अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है—उसे वन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है किन्तु वन्ध में एकत्व होता है।

वन्ध के दो प्रकार हैं—

१—वैस्रसिक २—प्रायोगिक

स्वभाव जन्य वन्ध वैस्रसिक कहलाता है।

जीव के प्रयोग से जो बन्ध होता है उसे प्रायोगिक कहा जाता है। वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि-दोनों प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलों का होता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि बन्ध है उसकी प्रक्रिया यह है—

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता। चिकने और रूखे परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रुक्षत्व है।

विशेष नियम यह है—

(१) जघन्य अंश वाले चिकने और रूखे परमाणु मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

(२) समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हों—केवल चिकने हों या केवल रूखे हों, मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

(३) स्निग्धता या रुक्षता दो अंश या तीन अंश आदि अधिक हों तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में कुछ मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य-अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है।

(२) सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी स्कन्ध होना माना जाता है।

(३) दो अंश आदि अधिक हों तो बन्ध होता है—यह सदृश परमाणुओं के लिए ही है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) एक जघन्य अंश वाले परमाणु का दूसरे अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता [१०४]।

(२) सदृश परमाणुओ में केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है [१०५]।

(३) दो अंश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश असदृश परमाणुओं के लिए भी है[१०१]।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य[१०२]	नहीं	नहीं
२—जघन्य एकाधिक	नहीं	है
३—जघन्य द्वयाधिक	है	है
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है
५—जघन्येतर समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्तेर अधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य	नहीं	नहीं
२—जघन्य एकाधिक	नहीं	नहीं
३—जघन्य द्वयाधिक	नहीं	नहीं
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५—जघन्येतर सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

बन्ध काल में अधिक अंश वाले परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूक्ष परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्धत्व को अपने में मिला लेता है।

कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं[१०८]।

दिगम्बर-परम्परा को यह समांश-परिणति मान्य नहीं है[१०९]।

छाया—अपारदर्शक और पारदर्शक—दोनों प्रकार की होती है।

आतप—उष्ण प्रकाश या ताप किरण।

उद्योत—शीत प्रकाश या ताप किरण।

अग्नि—स्वयं गरम होती है और उसकी प्रभा भी गरम होती है।

आतप—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा भी ठण्डी होती है।

प्रतिविम्ब

गौतम—भगवन्! काच में देखने वाला व्यक्ति क्या काच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिविम्ब को देखता है? वह क्या देखता है?

भगवान्—गौतम! काच में देखने वाला व्यक्ति कांच को नहीं देखता—वह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नहीं देखता—वह उसमें नहीं है। वह अपने शरीर का प्रतिविम्ब देखता है[११०]।

प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया औरउसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं। (१) सूक्ष्म (२) स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय धर्मक (घट-बढ़ जाने वाली) होती हैं। इनमें से रश्मियां निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं। और वे भास्कर या अभास्कर वस्तुओं में प्रतिविम्बित हो जाते हैं [१११]। अभास्कर वस्तु में पड़ने वाली छाया दिन में श्याम और रात को काली होती है। भास्कर वस्तुओं में पड़ने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है [११२]। आदर्श में जो शरीर के अवयव संक्रान्त होते हैं वे प्रकाश के द्वारा वहाँ दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिविम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह जीव की मुख्य क्रियाएं हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, दृश्य, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मन-वर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नई-नई आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मन-वर्गणा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएं पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगकृत दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानाङ्ग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-पट्त्रिंशिका' आदि परमाणुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणुविषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्ण इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

एक द्रव्य-अनेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं।

धर्म अधर्म समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य सांख्य-सम्मत प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं [११३]। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय अनन्त हैं [११४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त [११५]। कई ग्रन्थकारों ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नहीं। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य माने तब तो द्रव्य-संख्या में विरोध आता है और यदि उन्हें एक समुदय के रूप में माने तो अस्तिकाय की संख्या में विरोध आता है। इसलिए कालाणु असंख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश में फैले हुए हैं। यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

सादृश्य-वैसादृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा पांचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश है। अचैतन्य की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशत्व और अगुरु-लघुत्व की अपेक्षा सभी द्रव्य सदृश हैं।

असंख्य द्वीप-समुद्र और मनुष्य-क्षेत्र

जैन-दृष्टि के अनुसार भूवलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—तिरछे लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। उनमें मनुष्यों की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप [जम्बू, धातकी और अर्ध पुष्कर] में ही है। इनके बीच में लवण और कालोदधि—ये दो समुद्र भी आ जाते हैं, बाकी के द्वीप-समुद्रों में न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य-चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रों से विभक्त हो जाते हैं। इनको 'मनुष्य क्षेत्र' या 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त हैं। उनमें सूर्य-चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है

वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समय का माप नहीं है। तिरछालोक असंख्य योजन का है, उसमें मनुष्य-लोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है। पृथ्वी का इतना बड़ा रूप वर्तमान की साधारण दुनियां को भले ही एक कल्पना-सा लगे, किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। वैज्ञानिकों ने ग्रह, उपग्रह और ताराओं के रूप में असंख्य पृथ्वियां मानी हैं। वैज्ञानिक जगत् के अनुसार—"ज्येष्ठ तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारी वर्तमान दुनियां जैसी सात नील पृथ्वियां समा जाती हैं[११६]।" वर्तमान में उपलब्ध पृथ्वी के बारे में एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"और तारों के सामने यह पृथ्वी एक धूल के कण के समान है[११७]। विज्ञान निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य वर्णनों को कपोल-कल्पित नहीं मान सकता।" नंगी आँखों से देखने से यह निहारिका शायद एक धुंधले बिन्दु मात्र-सी दिखलाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोले की कल्पना करें, तब ऐसे दस लाख गोलों की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करें—फिर भी उक्त निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और इस ब्रह्माण्ड में ऐसी हजारों निहारिकाएं हैं। इससे भी बड़ी और इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते हैं[११८]। वैदिक शास्त्रों में भी इसी प्रकार अनेक द्वीप-समुद्र होने का उल्लेख मिलता है। जम्बूद्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं। आज की दुनियां एक अन्तर-खण्ड के रूप में है। इसका शेष दुनियां से सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दीखता। फिर भी दुनियां को इतना ही मानने का कोई कारण नहीं। आज तक हुई शोधों के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम तक कैसे पहुँच सकता है कि दुनियां बस इतनी है और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।

अलोक का आकाश अनन्त है। लोक का आकाश सीमित है[११९]। अलोक की तुलना में लोक एक छोटा-सा टुकड़ा है। अपनी सीमा में वह बहुत बड़ा है। पृथ्वी और उसके आश्रित जीव और अजीव आदि सारे द्रव्य

इसके गर्भ में समाए हुए हैं।

पृथ्वियां आठ हैं। सब से छोटी पृथ्वी 'सिद्ध शिला' है वह ऊँचे लोक में है।

(१) रत्न प्रभा (२) शर्करा प्रभा (३) वालुका प्रभा (४) पङ्क प्रभा (५) धूम प्रभा (६) तमः प्रभा (७) महातम प्रभा—ये सात बड़ी पृथ्वियां हैं। ये सातों नीचे लोक में हैं। पहली पृथ्वी का ऊपरी भाग तिरछे लोक में है। हम उसी पर रह रहे हैं। यह पृथ्वी एक ही है। किन्तु जल और स्थल के विभिन्न आवेष्टनों के कारण वह असंख्य-भागों में बंटी हुई है। जैन सूत्रों में इसके वृहदाकार और प्रायः अचल मर्यादा का स्वरूप लिखा गया है। पृथ्वी के लघ्वाकार और चल मर्यादा में परिवर्तन होते रहते हैं। वृहदाकार और अचल मर्यादा के साथ लघ्वाकार और चल मर्यादा की संगति नहीं होती, इसीलिए बहुत सारे लोग असमञ्जस में पड़े हुए हैं।

प्रो० घासीराम जैन ने इस स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"विश्व की मूल आकृति तो कदाचित् अपरिवर्तनीय हो किन्तु उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों की आकृति में सर्वदा परिवर्तन हुआ करते हैं। ये परिवर्तन कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन नहीं किन्तु कभी-कभी भयानक हुआ करते हैं। उदाहरणतः भूगर्भ-शास्त्रियों को हिमाचल पर्वत की चोटी पर वे पदार्थ उपलब्ध हुए हैं जो समुद्र की तली में रहते हैं। जैसे, सीप, शंख, मछलियों के अस्थिपञ्जर-प्रभृति"। अत एव इससे यह सिद्ध हो चुका है कि अब से ३ लाख वर्ष पूर्व हिमालय पर्वत समुद्र के गर्भ में था। स्वर्गीय पण्डित गोपालदासजी वरैय्या अपनी—"जैन जागरफी" नामक पुस्तक में लिखते हैं :—

"चतुर्थ काल के आदि में इस आर्य-खण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है जो क्रम से चारों तरफ को फैलकर आर्य-खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है। वर्तमान के एशिया, योरोप, अफ्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पांचों महाद्वीप इसी आर्य-खण्ड में हैं। उपसागर ने चारों ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तान को ही आर्य-खण्ड नहीं समझना चाहिए।"

अब से लेकर चतुर्थकाल के आदि तक की लगभग वर्ष-संख्या १४३ के आगे ६० शून्य लगाने से बनती है। अर्थात्-उपसागर की उत्पत्ति से जो भयानक परिवर्तन धरातल पर हुआ उसको इतना लम्बा काल बीत गया, और तब से भी अब तक और छोटे-छोटे परिवर्तन भी हुए ही होंगे। जिस भूमि को यह उप-समुद्र घेरे हुए है वहाँ पहले स्थल था—ऐसा पता आधुनिक भू-शास्त्रवेत्ताओं ने चलाया है जो 'गौंडवाना लैंड—सिद्धान्त (Gondwanaland Theory) के नाम से सुप्रसिद्ध है। अभी इस गौंडवानालैंड के सम्बन्ध में जो विवाद ब्रिटिश ऐसोशिएसन की भू-गर्भ, जन्तु व वनस्पति-विज्ञान की सम्मिलित मीटिंग में हुआ है उसका मुख्य अंश हम पाठकों की जानकारी के लिए उधृत करते हैं।

सिद्धान्त इस प्रकार है कि किसी समय में, जिसकी काल-गणना शायद अभी तक नहीं की जा सकी। एक ऐसा द्वीप विद्यमान था जो दक्षिणी अमेरीका और अफ्रिका के वर्तमान द्वीपों को जोड़ता था और जहाँ आजकल दक्षिणी अटलांटिक महासागर स्थित है। इस खोए हुए द्वीप को गौंडवानालैंड के नाम से पुकारते हैं और इससे हमारे उप-सागर-उत्पत्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है :—

—Professor Watson, President of the Zoology section, treated the question from the biological point of view. He traced certain marked resemblances in the reptile lye in each of two existing continents, quoting among other examples, the case of the decynodon, the most characteristic of the snakes of the Karroo, which was found also in South America, Madagasker, India and Australia. He went on to deduce from the pecular similarity in the flora, reptiles and glacial conditions that there must have been some great equational continent between Africa and South America, possibly

extending to Australia. The Professor mentioned, further an out the Gondwanaland theory, the ling fish, which can live out of water as well as in it, is found in fresh water only in South Africa and South America, the two species being almost indistinguishable. Dr. Du Joit (South Africa) declared that the former existance of Gondwanaland and was almost indisputable......

अर्थात् प्रो० वाटसन ने प्राणी-विज्ञान की अपेक्षा-दृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप-महाद्वीपों में पाये जाने वाले कृमियों (Reptiles) में बड़ी भारी समानता है। उदाहरणस्वरूप कारू का विचित्र सांप दक्षिणी अमेरिका, मेडागास्कर (अफ्रिका का निकटवर्त्ती अन्तर द्वीप) हिन्दुस्थान और आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है। अत एव उन्होंने इन प्रमाणों द्वारा यह परिणाम निकाला कि दक्षिणी अमेरिका, अफ्रिका और सम्भवतः आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भूमध्य-रेखा के निकटवर्त्ती कोई महाद्वीप अवश्य था जो अब नहीं रहा। इसी के समर्थन में उन्होंने एक विशेष प्रकार की मछली का भी बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती है। तत्पश्चात् दक्षिणी अफ्रिका के डा० डूरो ने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि गौंडवाना-लैंड की स्थिति के सम्बन्ध में अब कोई विशेष मतभेद नहीं है।

समय-समय पर और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह दिखलाने के लिए "वीणा" वर्ष ३ अंक ४ में प्रकाशित एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य से विशेष सम्बन्ध है :—

"सन् १८१४ में 'अटलांटिक' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें भारतवर्ष के चार चित्र बनाये गए हैं :—पहले नक्शे में ईशा के पूर्व १० लाख से ८ लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है। उस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। बहुत दूर अक्षांश ५५ तक धरातल ही था, उसके उपरान्त ध्रुव पर्यन्त समुद्र था। (अर्थात् नोरवे, स्वीडन आदि देश भी विद्यमान न थे)

दूसरा नक्शा ई० पू० ८ लाख से २ लाख वर्ष की स्थिति बतलाता है··· चीन, लाशा व हिमालय आदि सब उस समय समुद्र में थे····दक्षिण की ओर वर्तमान हिमालय की चोटी का प्रादुर्भाव हो गया था। उसे उस समय भारतीय लोग 'उत्तरगिरि' कहते थे···।

तीसरा चित्र ई० पू० २ लाख से ८० हजार वर्ष तक की स्थिति बतलाता है। इस काल में जैसे-जैसे समुद्र सूखता गया वैसे-वैसे इस पर हिमपात होता गया। जिसे आजकल हिमालय के नाम से पुकारा जाता है।

चौथा चित्र ई० पू० ८० हजार से ६५६४ वर्ष पर्यन्त की स्थिति को बतलाता है। इन वर्षों में समुद्र घटते-घटते पूर्व अक्षांश ७८.१२ व उत्तर अक्षांश ३८.५३ के प्रदेश में एक तालाब के रूप में बतलाया गया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित है कि आधुनिक भूगोल की प्राचीन विवरण से तुलना करने में अनेक कठिनाइयों का सामना होना अवश्यंभावी है और सम्भवतः अनेक विषमताओं का कारण हो सकता है [१२०]।

दस करोड़ वर्ष पुराने कीड़े की खोज ने भू-भाग के परिवर्तन पर नया प्रकाश डाला है। भारतीय जन्तु-विद्यासमिति (जूलोजिकल सर्वे आफ इन्डिया) के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० वी० एन० चोपड़ा को बनारस के कुओं में एक आदिम युग के कीड़े का पता चला जिसके पुरखे करीब १० करोड़ वर्ष पहिले पृथ्वी पर वास करते थे। वह कीड़ा एक प्रकार के झींगे (केकड़े) की शक्ल का है। यह शीशे के समान पारदर्शी है, और इसके १०० पैर हैं। यह कीड़ा आकार में बहुत छोटा है।

भू-मण्डल निर्माण के इतिहास में करीब १० करोड़ वर्ष पूर्व (मेसोजोइक) काल में यह कीड़ा पृथ्वी पर पाया जाता था। अभी तक इस किस्म के कीड़े केवल आस्ट्रेलिया, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रिका में देखे जाते हैं।

इस कीड़े के भारतवर्ष में प्राप्त होने से भू-विज्ञान वेत्ताओं का यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है कि अत्यन्त पुरातन काल में एक समय भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रिका, अमेरिका, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड और एशिया का दक्षिणी भाग एक साथ मिले हुए थे।

बाबा आदम के जमाने का १० करोड़ वर्ष बूढ़ा यह कीड़ा पृथ्वी की सतह के नीचे के पानी में रहता है और बरसात के दिनों में कुओं में पानी अधिक होने से इनके बन्धुओं की संख्या अधिक दिखाई पड़ती है। बरसात में कुओं में यह कीड़े इतने बढ़ जाते हैं कि कोई भी इन्हें आसानी से देख सकता है। बनारस छावनी के 'केशर महल' में नहाने के लिए पानी कुएँ से मशीन से पम्प किया जाता था वहाँ गुसलखाने (स्नानागार) के नहाने के टबों में भी ये कीड़े काफी संख्या में उपस्थित पाये गए।

वह छोटा कीड़ा इस प्रकार सुन्दरता के साथ पृथ्वी के आदिम युग की कहानी और अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत की प्राचीन एकता की कहानी भी बहुत पटु सुनाता है।

"ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत और सुदूर पूर्व के ये द्वीप-समूह किसी अतीत काल में अखण्ड और अविभक्त प्रदेश था [१२१]।"

भू-भाग के विविध परिवर्तनों को ध्यान में रखकर कुछ जैन मनीषियों ने आगमोक्त और वार्तमानिक भूगोल की संगति बिठाने का यत्न किया है। इसके लिए यशोविजयजी द्वारा सम्पादित संग्रहणी द्रष्टव्य है।

कुछ विद्वानों ने इसके बारे में निम्नप्रकार की संगति बिठाई है :—

भरत-क्षेत्र की सीमा पर जो हैमवत पर्वत है उससे महागंगा और महा-सिन्धु दो नदियां निकलकर भरत-क्षेत्र में बहती हुई लवण-समुद्र में गिरी है। जहाँ ये दोनों नदियां समुद्र में मिलती हैं वहाँ से लवण-समुद्र का पानी आकर भरत-क्षेत्र में भर गया है जो आज पांच महासागरों के नाम से पुकारा जाता है, तथा मध्य में अनेक द्वीप से बन गए हैं जो एशिया, अमेरिका आदि कहलाते हैं। इस प्रकार आज कल जितनी पृथ्वी जानने में आई है, वह सब भरत-क्षेत्र में है।

ऊपर के कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि पृथ्वी इतनी बड़ी है कि इसमें एक-एक सूर्य-चन्द्रमा से काम नहीं चल सकता। केवल जम्बूद्वीप में ही दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं [१२२]। कुछ दिन पहले जापान के किसी विज्ञान-वेत्ता ने भी यही बात प्रगट की कि जब भरत और ऐरावत में दिन रहता है तब विदेहों में रात होती है। इस हिसाब से समस्त

भरत-क्षेत्र में एक साथ ही सूर्य दिखाई देना चाहिए और अमेरिका, एशिया में जो रात-दिन का अन्तर है वह नहीं होना चाहिए। परन्तु भरत-क्षेत्र के अन्तर्गत आर्य-क्षेत्र के मध्य की भूमि बहुत ऊँची हो गई है जिससे एक ओर का सूर्य दूसरी ओर दिखाई नहीं देता। वह ऊँचाई की आड में आ जाता है। और इसलिए उधर जाने वाले चन्द्रमा की किरणें वहाँ पर पड़ती हैं। ऐसा होने से एक ही भरत-क्षेत्र में रात-दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस आर्य-क्षेत्र के मध्य-भाग के ऊँचे होने से ही पृथ्वी गोल जान पड़ती है। उस पर चारों ओर उपसमुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पड़ गए हैं। इसलिए चाहे जिधर से जाने में भी जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही लगभग जम्बूद्वीप के किनारे-किनारे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं और छह-छह महीने तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्य-क्षेत्र की ऊँचाई में भी कोई-कोई मीलों लम्बे-चौड़े स्थान बहुत नीचे रह गए हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड़ सकता है। तथा वे स्थान ऐसी जगह पर हैं कि जहाँ पर दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है तथा दक्षिणायन के समय सतत् अन्धकार रहता है।—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी चिपटी है। पृथ्वी के आकार के बारे में विज्ञान का मत अभी स्थिर नहीं है। पृथ्वी को कोई नारंगी की भांति गोलाकार, कोई लौकी के आकार वाली [१२३] और कोई पृथिव्याकार मानते हैं [१२४]।

विलियम एडगल ने इसे चिपटा माना है। वे कहते हैं—हरएक किन्तु सभी मानते हैं कि पृथ्वी गोल है, [१२५] किन्तु रूस की केन्द्रिय-कार्टोग्राफी संख्या के प्रमुख प्रोफेसर 'इसाकोम' ने अपनी राय में जाहिर किया है कि—"भू मध्य रेखा एक वृत्त नहीं किन्तु तीन धुरियों की एक 'इलिप्स' है।"

"पृथ्वी चिपटी है इसे प्रमाणित करने के लिए कितनेक मनुष्यों ने वर्ष बिता दिये, किन्तु बहुत थोड़ों ने 'सोमरसेर' के वासी स्वर्गीय 'विलियम एडगल' के जितना साहस दिखाया था। एडगल ने ५० वर्ष तक संलग्न चेष्टा की। उसने रात्रि के समय आकाश की परीक्षा के लिए कभी बिछौने पर न सोकर कुर्सी पर ही रातें बिताईं। उसने अपने बगीचे में एक ऐसा लोहे का नल गाड़ा जो कि ध्रुव तारे की तरफ उन्मुख था और उसके भीतर से देखा जा

सकता था। उस उत्साही निरीक्षक ने शेष में इस सिद्धान्त का अन्वेषण किया कि पृथ्वी थाली के आकार-चपटी है जिसके चारों तरफ सूर्य उत्तर से दक्षिण की तरफ घूमता है। उसने यह भी प्रगट किया कि ध्रुव ५०० माइल दूर है और सूर्य का व्यास १० माइल है।"

जैन-दृष्टि से पृथ्वी को चिपटा माना गया है—यह समग्रता की दृष्टि से है। विशाल भूमि के मध्यवर्ती बहुत सारे भूखण्ड वर्तुलाकार भी मिल सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार लङ्का से पश्चिम की ओर आठ योजन नीचे पाताल लङ्का है [१२६]।

काल-परिवर्तन के साथ-साथ भरत व ऐरावत के क्षेत्र की भूमि में ह्रास होता है—"भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ...तत्त्वार्थ ३।२८ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता...३।२९ श्लोक वार्तिककार विद्यानन्द स्वामी ने—तात्स्थ्यात् तच्छब्दसिद्धे र्भरतैरावतयो वृद्धिह्रासयोगः, अधिकरणनिर्देशो वा"—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ३।२८ टीका पृ० ३५४ त्रिलोकसार में प्रलय के समय पृथ्वी को १ योजन विध्वस्त होना माना है—"तेहिंतो सेसजणा, नस्संति विसग्गिवरिस-दड्ढमही।

इगि जोयण मेत्त मध्धो, चुण्णी किज्जदिहु कालवसा।

(ति० ८६७)

इसका तात्पर्य यह है कि भोग-भूमि के प्रारम्भ से ही मूल जम्बूद्वीप के समतल पर 'मलवा' लदता चला आ रहा है, जिसकी ऊँचाई अति दुषमा के अन्त में पूरी एक योजन हो जाती है। वही 'मलवा' प्रलयकाल में साफ हो जाता है और पूर्व वाला समतल भाग ही निकल आता है। इस बढ़े हुए 'मलवे' के कारण ही भूगोल मानी जाने लगी है। अनेक देश नीचे और ऊपर विषम-स्थिति में आ गए हैं। इस प्रकार वर्तमान की मानी जाने वाली भूगोल के भी जैनशास्त्रानुसार अर्ध-सत्यता या आंशिक-सत्यता सिद्ध हो जाती है एवं समतल की प्रदक्षिणा रूप अर्ध नारंगी के समान गोलाई भी सिद्ध हो जाती है।

चर-अचर :—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी स्थिर है। वर्तमान के भूगोल-वेत्ता पृथ्वी को

चर मानते हैं। यह मत-द्वैध वहुत दिनों तक विवाद का स्थल बना रहा। आइंस्टीन ने इसका भाग्य पलट दिया।

"क्या पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है या स्थिर है"? सापेक्षवाद के अनुसार कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम Denton की पुस्तक Relativity से कुछ यहाँ भावार्थ उपस्थित करते हैं :—

"सूर्य-मंडल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षिक गति हैं उसका समाधान पुराने 'अचल पृथ्वी' के आधार पर भी किया जा सकता है और 'कोपर निकस' के उस नए सिद्धान्त के अनुसार जिसमें पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है। दोनों ही सिद्धान्त सही हैं और जो कुछ खगोल में हो रहा है उसका ठीक-ठीक विवरण देते हैं। किन्तु पृथ्वी को स्थिर मान लेने पर गणित की दृष्टि से कई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा से तो अवश्य गोलाकार रहती है, किन्तु सूर्य से अन्य ग्रहों का मार्ग वड़ा जटिल हो जाता है जिसका सरलता से हिसाव नहीं लगाया जा सकता (इस हिसाव को जैनाचार्यों ने वड़ी सुगमता से लगाया है जिसे देखकर जर्मनी के वड़े-वड़े विद्वान् Gr. D. C Schubieng प्रभृति शत्-मुख से प्रशंसा करते हैं) किन्तु सूर्य को स्थिर मान लेने पर सब ग्रहों की कक्षा गोलाकार रहती है। जिसकी गणना वड़ी सुगमता से हो सकती है।"

आइन्स्टीन के अनुसार विज्ञान का कोई भी प्रयोग इस विषय के निश्चयात्मक सत्य का पता नहीं लगा सकते [१२७]।

"सूर्य चलता हो अथवा पृथ्वी चलती हो किसी को भी चलायमान मानने से गणित में कोई त्रुटि नहीं आएगी [१२८]।"

सृष्टिवाद

सापेक्ष दृष्टि के अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सान्त जो है, द्रव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा सादि सान्त। लोक में दो द्रव्य हैं—चेतन और अचेतन। दोनों अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-आनुपूर्वी।) सम्वन्ध नहीं है। पहले जीव और वाद में अजीव अथवा पहले अजीव और वाद में जीव—ऐसा सम्वन्ध नहीं होता। अण्डा मुर्गी से पैदा होता है और मुर्गी अण्डे से पैदा होती है। वीज वृक्ष से

पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी। अनुक्रम सम्बन्ध से रहित शाश्वतभाव है। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता। यह ध्रुव अंश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों में प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्म-बद्ध-जीव और पुद्गल-स्कन्धों में ही होता है। हमारा दृश्य जगत् वही है।

विश्व को सादि-सान्त मानने वाले भूतवादी या जड़ाद्वैतवादी दर्शन सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करते हैं, इसलिए उन्हें विश्व के आदि कारण की अपेक्षा होती है। इनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से हुई है। जड़-चैतन्याद्वैतवादी कहते हैं—"जगत् की उत्पत्ति जड़ और चैतन्य—इन दोनों गुणों के मिश्रित पदार्थ से हुई है।

विश्व को अनादि अनन्त मानने वाले अधिकांश दर्शन भी सृष्टि और प्रलय को या परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्हें भी विश्व के आदि कारण की मीमांसा करनी पड़ी। अद्वैतवाद के अनुसार विश्व का आदि कारण ब्रह्म है। इस प्रकार अद्वैतवाद की तीन शाखाएं बन जाती हैं—
(१) जड़ाद्वैतवाद (२) जड़चैतन्याद्वैतवाद (३) चैतन्याद्वैतवाद।

जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनों "कारण के अनुरूप कार्य होता है"—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरम्भवादी हैं [१२९]। सांख्य और योग परिणामवादी हैं [१३०]। जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं, परिवर्तनवादी हैं [१३१]। जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसीमें समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति

है जो चेतन और अचेतन-पुद्गल के विविध जातीय संयोग से स्वयं प्रगट होती है।

नं०	वाद	दृश्य जगत् का कारण क्या है ?
१	जड़ाद्वैतवाद	जड़पदार्थ
२	जड़ चैतन्याद्वैतवाद	जड़-चैतन्ययुक्त पदार्थ
३	चैतन्याद्वैतवाद (विवर्त्तवाद)[१३२]	ब्रह्म
४	आरम्भवाद	परमाणु-क्रिया
५	परिणामवाद	प्रकृति
६	प्रतीत्यसमुत्पादवाद	अव्याकृत (कहा नहीं जा सकता)
७	सापेक्ष-सादि-सान्तवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय।

परिशिष्ट

[टिप्पणियां]

: एक :

१—से अयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई —आचा० १-१-१ ।

२—सू० २।५।१२, १३,१४,१५,१६,१६ ।

३—आव० ४।५, सू० २।७ ।

४—सड्ढी आणाए मेहावी —आचा० १।३।४ ।

५—मइमं पास··· —आचा० १।३।१ ।

६—सू० २।७, उत्त० २८।२,३

७—अप्पणा सच्चमेसिज्जा —उत्त० ६।२ ।

८—पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि —अचा० १।३-३-१११

९—सच्चम्मि धिइं कुव्वहा —आचा० १।३-३-११३

१०—सच्चं लोगम्मि सारभूयं —प्रश्न० २ संवर द्वार ।

११—इह हि रागद्वेपमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसाऽनेकातिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेयपरिज्ञाने यत्नो-विधेयः। स च न विशिष्टविवेकमृते ।

—आचा० वृ० १-१ उपोद्‌घात ।

१२—आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति —बृह० उप० २।४।६

१३—न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति···

—बृह० उप० २।४।५

१४—सेणं भन्ते ! सवणे किं फले ? णाण फले । सेणं भंते णाणे किं फले ? विण्णाणफले । ज्ञानम्—श्रुतज्ञानम्, विज्ञानम्—अर्थादीनां हेयोपादेयत्व-विनिश्चयः —स्था० ३।३।१९० ।

१५—सा च द्विधा—ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्य-व्यापारेण बन्धो भवति—इत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । प्रत्याख्यान-परिज्ञया च सावद्ययोगाबन्धहेतवः प्रत्याख्येयाः, इत्येवंरूपा चेति

—आचा० वृ० १-१-१-१ ।

१६—अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम्।
—प्र० न० १-३

१७—प्र० र० प्र० ५२

१८—सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंवियं।
सव्वे आमरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥
—उत्त० १३।१६।

१९—दर्शनं निश्चयः पुंसि, वोधस्तद्वोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥　—पञ्चा० १७०

२०—शा० भा० १।१।१

२१—इह मेगेसिं नो सन्ना होइ, कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि?
अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि? के वा अहमंसि? के वा इओ
चुओ इह पेच्चा भविस्सामि। —आचा० १-१

२२—अन्नाणी किं काहीइ, किंवा नाहीइ सेय पावगं। दशवै० ४—१०

२३—पढमं नाणं तओ दया। दशवै० ४-१०

२४—येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूहि॥

२५—एकोहु धम्मो नरदेवताणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।
—उत्त० १४।४०

२६—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
—वृह० उप० २-४-५

२७—तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं। —भग०

२८—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः
शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
—मुण्डकोप० ३-५

२९—रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं कि स्यात्॥

३०—अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्तः।
—प्र० न० ४-४

३१—से बेमि—अथ ब्रवीमि —आचा० १-१-३

३२—उत्त० २८-२०

३३—उत्त० २८-२६

३४—उत्त० २८-२४

३५—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शनहेतवः॥

३६—दव्वाणसव्वभावो, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धो।
सव्वाहि नयविहिहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥ —उत्त० २८-२४

३७—आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये॥

३८—इह द्विविधा भावाः—हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च। तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः, तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। अहेतुग्राह्या अभव्यत्वादयः, अस्मदाद्यपेक्षया तत्साधकहेतूनामसंभवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति। —प्रज्ञा० वृ० १

३९—न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते—न खलु किमिह दहनो दहति नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति।

४०—श्रवणं तु गुरोः पूर्वं, मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णबोधस्य कारणम्॥ —शु० र० ३-१३

४१—सू० १।१

४२—तस्य श्रद्धैव शिरः। —तैत्त० उप०

४३—बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे। —वै० द०

४४—योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दकः॥ —मनु० २-११

४५—यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः। —मनु० १२-१०६

४६—पं० व० ४ द्वार

४७—लो० त० नि०

४८—न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपाती, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् । —अ० व्यव० २६

न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा । —शा० सा०

४६—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ।

—न्या० सू० १-१

५०—विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्र्यपेक्षया ।

प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः ॥ —धर्म० वा०

५१—शं० दिग्वि०

५२—अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।

वाक्-संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ —वाद द्वा० ७

५३—महा० भा० व० प० ३१२-११५

५४—यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः ।

अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपद्यते ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

न चैतदेव यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान् ।

मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

—यो० द० स० १४३-१४४-१४५

५५—सच्चं लोगम्मि सारभूयं । —प्रश्नव्या० २

५६—सत्यमायतनम् । केन० उप० चतुर्थ खण्ड ८

५७—एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।

तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वयं स्वीयहिताभिलापिन् ॥

—द्रव्यानु० त०

५८—न्या० सू० १-१-१, वै० द० १-१-१

५९—सर्व० प० ल० सं० पृ० २७

६०—नानाविरुद्धयुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय वर्तमानो विचारः परीक्षा ।

६१—सू० १-१-१

६२—समा०

६३—षट्० ७८-७६

६४—मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि भवतीति। तेभ्य एवं तर्क-ऋषिं प्रायच्छन्……नि०…२-१२

६५.—Philosophy begins in wander।

६६—(क) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा, तदपघातके हेतौ…

—सां० का०-१

(ख) दुःखमेव सर्वं विवेकिनः, हेयं दुःखमनागतम्…।

—यो० सू० २।१५-१६।

(ग) महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु राजधानी से वाहर निकलकर प्रतिज्ञा की—"जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा"।

—बु० च०

६७—अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराये। किं नाम हूज्जत्तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा —उत्त० ८-१।

६८—पावेकम्मे जेय कडे, जेय कज्जइ, जेय कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे

—भग० ७-८।

६६—जे निजिण्णे से सुहे"'। —भग० ७।८।

७०—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण फला, दुचिण्ण कम्मा दुचिण्णफला।

—दशा०-६

(ख) पुण्यौ वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेनेति। —वृह० उप० ३-२-१३

७१—अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि।

—आचा० ४।१-२०४।

७२—७३—सापेक्षाणि च निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु सोपक्रमञ्च निरुपक्रमञ्च दृष्टं यथायुष्कम्॥ —प्रज्ञा० वृ० पद-१४

७४—सव्वे समड्ढिया, सव्वे महज्जुइया, सव्वेसमजसा, सव्वे समवला, सव्वे समाणुभावा, महासोक्खा, अणिंदा; अप्पेसा, अपुरोहिया, अहमिंदाणामं ते देवगणा॥ —प्रज्ञा-पद ३

७५—सव्वेपाणा अणेलिसा सर्वेपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावाद् नानागति जाति शरीराङ्गोपाङ्गादि समन्वितत्वादनीदृशा विसदृशा…:—सू० वृ०.२।५

७६—दशवै० ८।२७

७७—सू० १-२

७८—उत्त० १६-२३,२४

७६—उत्त० १०,१

८०—उत्त० १०-२

८१—उत्त० १०-४

८२—सू० २-१-१

८३—दशवै० ८।३६

८४—उत्त० ५।१५

८५—षट्० ८३

८६—उत्त० ५-६

८७—उत्त० ५-७

८८—षट्० ८२

८६—उत्त० ५।५

६०—णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, णोदुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, अफले कल्याणपावए. णो प च्चायंति जीवा······
—दशा० ६

६१—उत्त० २१-२४

६२—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, सफले कल्याणपावए पच्चायंति जीवा···— दशा० ६

६३—उत्त० ४-३,

६४—उत्त० ५-८

६५—उत्त० ५-६

६६—उत्त० ५-११

६७—उत्त० ५-१२

६८—उत्त० ५-१४

६६—सू० १।१।६,

१००—सू० १।१।७,

१०१—उत्त० १४।१८,

: दो :

१—सेण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे, —आचा० १।५।६-३३३

२—अरूवी सत्ता····· ···आचा० १।५।६-३३२

३—अहा १-१-१

४—देहिंदिया इरित्तो, आया खलु गज्झ आहग-पओगा।
संडासो अय पिण्डो अपकारो इव्व विन्नेओ॥ दशवै० नि० ४॥ ३४०

५—जो चिंतेई सरीरे, नत्थि अहं स एव होई जीवोत्ति।
न ऊ जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो॥४। २४६
जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि वा नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स। —दशवै० नि० ४।२५०

६—अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंस-चक्खुणा॥ —दशवै० नि० ४।२६०

७—असओ नत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं संजोगाइ चउक्कं पि
सिद्ध मत्थंतरे नियय॥—वि० भा० गाथा १५७४

८—अरूवी सत्ता·········आचा० ६।१।३३२

९—जीवो उवओग लक्खणो······उत्त० २८।१०

१०—नाणेणं दंसणेण च सुहणेय दुहणेय······उत्त०२८।१०

११—सेण सद्दे ण रूवे ण गंधे ण रसे ण फासे······आचा० ६।१।३३३

१२—सेण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किन्हे, ण
णीले। ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण
तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण महुरे, ण कक्खड़े, ण मउए, ण गरुए, ण
लहुए, ण सीए, ण उन्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे, ण संगे,
ण इत्थि, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचा० ३।१।३३१

१३—अपयस्स पयं णत्थि······आचा० ६।१।३३२

१४—सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता······
आचा० ६।१।३३०

१५—अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः॥—मा० का० १८।१०

१६—आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम्॥—मा० का० १६।६

१७—सुख-दुख ज्ञान निरुपत्त्यविशेषादैकात्म्यम्। वै० सू० ३।२।१६

१८—(क) व्यवस्थातो नाना। —वै० सू० ३।२।२०
(ख) जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नः—तर्क सं०

१६—न हन्यते हन्यमाने शरीरे……कठ० उप० १—२।१५।१८

२०—इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से अव्यक्त और अव्यक्त से पुरुप श्रेष्ठ है। वह व्यापक तथा अलिङ्ग है। —कठ० उप० २।३।७।८०
पुरुप से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) और कोई कुछ नहीं है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। —कठ० उप० १।३।१०, ११

२१—ईशावास्यमिदं सर्वं। यत् किञ्च जगत्यां जगत् —ईशा० उप०

२२—अविकार्योऽयमुच्यते……गी० २—२५.

२३—यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह —तैत्त० उप० २।४

२४—स एस नेति नेति……बृह० उप० ४-५-१५

२५—अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय मतमोऽवाप्वनाकाश मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽश्नोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तर-मवाह्यम्……बृह० उप०—३।८।८

२६—तैत्त० उप०—२।१।१

२७— „ „—२।२।१

२८— „ „—२।२।१

२६— „ „—२।३।१

३०— „ „—२।४।१

३१— „ „—२।५।१

३२—ण हि इन्दियाणि जीवा, काया पुण छप्प यारपण्णंति।
जं हवदि-तेसु णाणं, जीवोत्तिय तं परूपवन्ति॥

जाणादि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुखं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥

—पञ्चा० १२६, १३०

अर्थात्—इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं, छह प्रकार के शरीर भी जीव नहीं हैं। उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है।

उसके लक्षण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख की इच्छा, दुख का भय हित अहित करण उनका फल भोग।

३३— सुह दुःख जाणणावा, हिदपरियम्मं च अहिद भीसत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अजीव॥

३४—जिनमें सुख-दुख का ज्ञान, हित का अनुराग, अहित का भय, नहीं होता, वे अजीव हैं।

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है।

इसके विपरीत……जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है। —हि० भा० खण्ड १, पृ० ४१

(ख) सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के संपृक्त घोल में रक्खे जाने पर नहीं बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बड़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे २ बढ़ते हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है। लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं।

अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है, और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से। —हि० भा० खण्ड १ पृ० ५०

३५—प्राणी-सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उनमें पहुँचकर सजीव कोष्ठों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय "क्लोरोफिल" को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणित करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

३६—लज्जावती की पत्तियाँ स्पर्श करते ही मूर्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है। परन्तु खेत की मेड़, वाटिका के फौव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है? क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित है, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।

—हि० भा०—खण्ड १ पृ० ४२

३७—भग० २५।४

३८—सुहुमेणं वायुकायेणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, वे यंतं चलंतं सुब्भंतं कंदंतं घट्टंतं, उदीरंतं, तं भावं परिणमतं सव्वं मिणं जीवा— स्था० ७

३९—भग० २।१०

४०—सोडियम (Sodium) धातु के टुकड़े पानी में तैरकुआ कीड़ों की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

—हि० भा० खण्ड १ पृ० १३८

४१—यथा व्रीहि र्वा यवो वा—बृह० उप० ५।६।१

४२—प्रदेश मात्रम्—छान्दो० उप ५।१८।१

४३—एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः—कौषी० ३५।४।२०

४४—सर्वगतम्—मुण्डकोप० १।१।६

४५—एष म आत्मान्तर हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानभ्यो लोकेभ्यः। —छांदो० उप० ३।१४।३

४६—जीवत्थि काए—लोए, लोय मेत्ते लोयप्पमाणे।—भग० २।१०

४०—जैन० दी० ८।२

४७—भग० ६।६।१७

४८—चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला.........

४९—लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवै र्निरन्तरं भृतस्तिष्ठति। बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव।—पर० प्र० वृ० २।१०७

५०— अद्दाऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जंबूदीवे न माइंत्ति॥

५१—एगम्मि दगविन्दुम्मिमे जे जिणवरेहिं पण्णत्ता ते जइ सरिसवमित्ता जम्बूदीवे न माइंति।

५२— वरट्टि तन्दुल मित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थ पलिक्ख पमाणा, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन० उल्लास ३ प्रश्न-२९९

५३— जे लिंवपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन उल्लास ३-प्रश्न—२९९

५४—होमर—युनान का प्रसिद्ध कवि।

—"Take your dead hydrogen atoms your

dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the braich is formed. Imagine them separate and senseless, observe then runing together and forming all gimaginable combinations. This as a purely mechanical process is seeable by the mind. But can you see or dream or in any way imagine how out of that mechenical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely tacreate Homer out of the rattling of dice or 'Differential calculus' out of the clash of Billiardball ?......You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomana of consciousness."

५५—नहि आत्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते । तथाहि प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये वा प्रवृतेरेकस्य च परिच्छेतुरभावात्, मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याऽभाव इति । —सूत्र० वृ० १।८

५६—विज्ञा० रूप० पृष्ठ-२६७.

५७—आया भंते ! काये अन्ने काये ! गोयमा आया काये वि अन्ने वि काये । रूवि भन्ते ! काये अरुवि काये ? गोयमा ! रुवि पि काये अरु वि पि काये । एवं एकेके पुच्छा-गोयमा ! सच्चित्ते वि काये अचित्ते वि काये ।
—भग० १३।७-४६५

५८—भग० १४-४-५१४

५९—भग० १७-२-

६०—भूतेभ्यः कथंचिदन्य एव शरीरेण सह अन्योन्यानुवेधादनन्योपि ।
—सूत्र०-१।१।१८

६१—आचा० १।५।६।१७१,१७२, भग०-१७-२-

६२—तथा सहेतुकोऽपि, नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति। तथात्मस्वरूपाऽप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपि।
—सूत्र० १।१।१८

६३—सूत्र०-१।१।८

६४—पावलोक के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति-गति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न सहचर क्या अभिन्न ही हैं?

६५—इमम्मि शरीरए सठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरं उवगयाणं जा उ रसहरणिओति वुच्चइ। जासिं णं निरुवघाएणं चक्खुसोयघाण जिहाबलं भवइ। —तन्दु० वै०

६६—माणवेत्ति वा (अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः) अंतरप्पातिवा (अन्तर-मध्यरूप आत्मा, न शरीर रूपः) —भग० २०।२

६७—जम्हाणं कसिणे पडिपुण्णे, लोगागासपएसतुल्ले जीवेत्ति वत्तव्वं सिया।...

६८—भिक्षु० न्या० ७-२

६९—ण एवं भूतं वा भरं वा भविस्सइ वा, जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति। —स्था० १०

७०—जन्नं जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायंति एवं रागा लोगट्ठिति पण्णत्ता। —स्था० १०

७१—सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ। —आचा० १।२।६

७२—कस्मियाए संगियाए। —भग० २।५

७३—स्था० ६-६८६

७४—दशवै० ८।३६

७५—गी० २।२२

७६—गी० ८।२६......

७७—.........

७८—न्याय सू० ३-१-११

७९—न्याय सू० ३-१-१२

८०—वाल सरीरं देहं तरपुव्वं इंदिया इमत्ताओ।
जुवदेहो वालादिव स जस्स देहो स देहित्ति। —वि० भा०

८१—The soul always weaves her garment a-new—
"The soul has a natural strength which will hold out and be borne many times—PLATO.

८२—I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the frist time Scchonpenhouer.

८३—काल के सबसे सूक्ष्म भाग को अर्थात् जिसके दो टुकड़े न हो सकें, उसे 'समय' कहा जाता है।

८४—भग० १।७

८५—जीवेणं भंते सउट्ठोण सकम्मे, सवले, सवीरिए, सपुरिसक्कार परिकम्मे, आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। हंता, गोयमा! जीवेणं जाव-उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। —भग० २।१०

८६— से णं भंते! जोए किं पवहे?...गोयमा! वीरियप्पवहे।
से णं भंते! वीरिए किं पवहे? गोयमा! सरीरप्पवहे
से णं भंते! सरीरे किं पवहे? गोयमा! जीवप्पवहे!
—भग०-१-३

८७—जीवा णं भंते! किं सवीरिया, अवीरिया?
गोयमा! सवीरिया वि, अवीरियावि— भग० १-८

८८—कह णं भंते! जीवा गुरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति? गोयमा! पाणाइवाएणं मुसावाएणं, अदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं कोह-माण-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण, पेसुण्णं-अरतिरति परपरिवाय-माया-मोस-मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवागरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति। —भग० १।६

८९—कहणं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति?
गोयमा! पाणाइ वायवेरमणेणं, जाव मिच्छादंसण सल्लविरमणेणं।
—भग० १-६

९०—गंगेया! कम्मोदएणं, कम्मगुरुयत्ताए, कम्मभारियत्ताए, कम्मगुरुसंभारि-

यत्ताए, असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं, फलविवागेणं, सेयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति। भग० ६।३२

६१—गंगेया! कम्मोदएणं, कम्मोवसमेणं, कम्मविगतीए, कम्मविसोहीए, कम्मविसुद्धीए, सुभाणं कम्माणं, उदएणं, सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए उववज्जंति! —भग० ६।३२

६२—एगे जीवे एगेणं समएणं एगं अउयं पडिसंवेदइ-इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा·······—भग० ५-३

६३—(क) जीवेणं भंते! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं किं साउए संकमइ?

गोयमा! साउए संकमइ, नो निराउए संकमइ।

से णं भंते! आउए कहिं कडे, कहिं समाइण्णे?

गोयमा! पुरिमे भवेकडे, पुरिमे भवे समाइण्णे, एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ!······ —भग०५-३

(ख) (I) जीव स्वप्रयोग से ही दूसरे जन्म में उत्पन्न होते हैं :—

ते णं भंते! जीवा किं आयप्पयोगेणं उववज्जंति, परप्पयोगेणं उववज्जंति?

गोयमा! आयप्पयोगेणं उववज्जंति, नो परप्पयोगेणं उवज्जंति।

—भग० २५-८

(II) से यं भंते! नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति! गंगेया! सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, नो असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति —भग० ६-३२

: तीन :

१—प्रज्ञा० पद २३

२—४।४।३७६

३—औपचारिक मनुष्य—मनुष्य के अशुचि-स्थानों में पैदा होने वाले सूक्ष्म जीव सम्मूर्छनज होते हैं।

४—स्था० ४।४।३७७

५—स्त्रिया ओजसा समायोगो वातवशेन तत् स्थिरी-भवन लक्षणः 'स्त्र्योजः समायोगस्तस्मिन् सति बिम्ब तत्र गर्भाशये प्रजायते।'

—स्था० वृ० ४।४।३७७

६—स्था० ५।२।४१६

७—भग० २।५

८—भग० २।५

९—भग० २।५

१०—भग० वृ० २।५

११—भग० २।५

१२—भग० १।७

१३—भग० १।७

१४—भग० १।७

१५—भग० १।७

१६—गर्भ उपपात और सम्मूर्छनज

१७—सुहुमा आणागेज्झा चक्खु फासं न ते यंति —प्रज्ञा० पद-१

१८—(क) तानि पुण असंखज्जाणि समु दिताणि चक्खु विसय मागच्छन्ति।

दशवै० चूर्णि-४

(ख) इक्कस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण १०८

वि न पासिउं सक्का। दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखाणं।

आचा० नि० ८२

१६—(क) एकेन्द्रियाणामपि क्षयोपशमोपयोगरूप भावेन्द्रियपंचक सम्भवात्
······प्रज्ञा० वृ० पत्र-१

(ख) एकेन्द्रियाणां तावच्छोत्रादिद्रव्येन्द्रिया भावेऽपि भावेन्द्रिय ज्ञानं किञ्चिद् दृश्यते एव। वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात्।
—वि० भा० वृ० गाथा-१०३

२०— जं किर वउलाईणं, दीसइ सेसिंदिओवलं भोवि।
तेणत्थितदावरण वक्खओवसम संभवो तेसिं॥

ततो न भावेन्द्रियाणि लौकिकव्यवहारपथावतीर्णैकेन्द्रियादि व्यपदेश निवन्धनम्, किन्तु द्रव्येन्द्रियाणि······प्रज्ञा० वृ० पद-१

२१— पंचिदिओ विवउलो नरोव्व सव्वविसयोवलंभाओ।
तइ वि न भन्नइ पंचिदिओ त्ति वज्झिंदिया भावात्॥
—प्रज्ञा० वृ० पद-१

२२— अत्थाणंतरचारि, नियतं चित्तं तिकालविसयंतु।
अत्थेय पडुपण्णे, विणियोगं इंदियं लहई॥

अर्थान्तरचारी सर्वार्थग्राही, नियत, त्रैकालिक और संप्रधारणात्मक ज्ञान मन है। वर्तमान, प्रतिनियत अर्थग्राही ज्ञान इन्द्रिय है।

२३—नं० ४१

२४—भग० ७।१

: चार :

१—(क) जीवाणं भंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिया ?

गोयमा ! जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति अवट्ठिया

(ख) जीवाणं भंते ! किं सोवचया, सावचया, सोवचय-सावचया, निरवचय-निरवचया।

गोयमा ! जीवाणो सोवचया, नो सावचया, नो सोवचय—सावचया। निरुवचय-निरवचया। —भग० ५-८।

२—स्था० १०।७०४

३—परमाणु पोग्गले णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं, असंखेज्जंकालं, एवं जाव अणंतपएसिओ —भग० ५।७

४—जैन० दी० ८।२७

५—जैन० दी० ४।१३, १५

६—भग० ७।८ —प्रज्ञा० पद ८

७—दशवै० ४,५,६,७,८

८—"Respouse in the living and non-living"

९—सुहमा सव्व लोगम्मि, लोग देसेय वायरा —उत्त० ३६-७८

१०—एक्कस्स उ जं गहणं, वहूणसाहारणाण तं चेव।
जं वहूणाणं गहणं, समासओ तं पि एयस्स ॥

—प्रज्ञा० पद-१

११—(क) साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाण गहणं च।
साहारण जीवाणं, साहारण लक्खणं ए यं···

(ख) समयं वच्छंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती।
समयं आणुगाहण, समयं उस्सास निस्सासं··· —प्रज्ञा० पद १

१२—लोगागास पएसे, निगोयजी व ठवेहिएक्केकं।
एवं मविज्ज माणा, हवंति लोया अणंताओ··· —प्रज्ञा० पद १

१३—(क) जह सगल सरिसवाणं, सिलेसमिस्साणवड्ढिया वट्टी।
पत्तेय सरीराणं, तह होंति सरीर संघाया····

(ख) जहवा तिल पप्पडिया, वहूहिं तिलेहिं संहवा संति।
पत्तेय संरीराणं, तह होंति सरीर संघाया।—प्रज्ञा० प० १

१४—लोगागास पएसे, परित्त जीवं ठवेहिं एक्केक्कं।
एवं मविज्जमाणा, हवन्ति लोया असंक्खेज्जा॥ —प्रज्ञा० पद १

१५—संहनन का अर्थ है अस्थि-रचना। अस्थि-रचना छह प्रकार की होती है, अतः संहनन के छह भेद हैं—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच अर्धनाराच, कीलक और सेवार्त।

१६—संस्थान का अर्थ है आकृति-रचना। यों तो जितने प्राणी उतनी ही आकृतियां हैं लेकिन उनके वर्गीकरण से छह ही प्रकार होते हैं। यथा—समचतुरस्र, न्यग्रोध-परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

१७—नया० (सितम्बर १९५३) विज्ञान और कम्युनिज्म—ले० प्रो० सी० डी० डार्लिंगटन

१८—कहिणं भंते! सम्मूच्छिम मणुस्सा सम्मुच्छन्ति?
गोयमा! गब्भ वक्कंतियमणुस्साए चेव उच्चारेसु वा, पासवणेसुवा, खेलेसुवा सिंघाणेसुवा, वन्तेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सुक्केसु वा, सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकलेवरेसु वा इत्थीपुरीससंजोएसु वा, नगरनिद्धमणेसु वा, सव्वेसुचेव असुइएसु ठाणेसु एत्थणं सम्मूच्छिमनणुस्सा सम्मुच्छन्ति, अंगुलस्स असंखिज्ज भागमित्ती एओगाहणाए असन्नी-मिच्छदिट्ठी अन्नाणी सव्वाही पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव काल करेंति··· —प्रज्ञा० पद १

१९—'टरपन' जाति के पशु जगत् के प्राचीनतम पशुओं में से हैं। पाषाण-युगीन गुफाओं में उनके कितने ही चित्र आज भी उपलब्ध हैं—कद में नाटा—ठिगना, भूरे वाल, पैर पर धारियां और चूहे सा मुंह। यह पशु वड़ा ताकतवर तथा भयानक होता था। अपनी जंगली अवस्था में तो अक्सर इनके झुण्ड चरते-चरते यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते थे। अठारहवीं सदी तक तो इस जाति के पशुओं का पता

चलता है, किन्तु उसके बाद यह पूरी जाति ही जैसे हमेशा के लिए तिरोहित सी हो गई।

सन् १९२८ में पुरातत्त्व का शोध-छात्र (Research Scholar) हिंज हेक जब खोह-युगीन मानव के भित्ति-चित्र देखकर वापिस लौटा तो उसके मनमें यह प्रश्न उठा कि क्या हम वर्तमान घोड़े की नश्ल को विकास के उल्टे क्रम पर बदलते हुए 'टरपन' की जाति में परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रश्न क्या था, मानो एक चुनौती थी। उसने तुरन्त ही 'टरपन' जाति के पशुओं के अस्थिपंजर तथा गुफा चित्रों का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। कई वर्ष तक वह इधर-उधर 'टरपन' सम्बन्धी सही जानकारी प्राप्त करने के लिए ही मारा-मारा फिरता रहा। आखिर पन्द्रह वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उसने यह पता लगा लिया कि 'टरपन एशिया के जंगली घोड़ों और आइसलैंड के पालतू घोड़ों के बहुत निकट का जन्तु रहा होगा। अतः उसने इन्हीं के संक्रमण द्वारा नई नश्ल पैदा करना शुरू किया। उसे अपने प्रयोग में सफलता भी मिली। इस परीक्षण की पांचवीं पीढी का पशु बिल्कुल प्रागैतिहासिक युग के 'टरपन' के समान था और इस नई नश्ल के १७ जानवर उसने अभी तक पैदा कर लिए हैं। —नव० जून १९५३

२०—स्था० ४-४।३७७

२१—भग० १।७

: पाँच :

१—कम्मओणं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।

कम्मओणं जओ णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई॥

—भग० १२।५,

२—कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत् —अभि० चि०

३—जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं कज्जतणओ गोयमा।

घडोव्व हेऊय सो कम्म —वि० भा०

४—आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्या ऽऽकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्‌गलाः कर्म।

—जै० दी० ४।१

५—ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यस्य दर्शनात् —न्याय० सू० ४।१

६—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। —सांख्य, सूत्र० ५।२५

७—जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णिययं।

जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि··· —पञ्चा० १४१

८—मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंध मणुहवदि।

जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहदि तेतेहिं उग्गहदि··· —पंचा० १४२

९—जीवपरिणाम हेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।

पोग्गल कम्म निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ॥

—प्र० वृ० पृ० ४५५

१०—रूविं पि काये —भग० १३-७,

जीवस्स सरूविस्स —भग० १७-२

वण्ण रस पंच गन्धा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।

णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो —द्रव्य० सं० गा० ७

११—रूवी जीवा चेव अरूवी जीवा चेव —स्था० २

१२—कर्म बन्ध के हेतु

(१) ज्ञानावरणीय-(१) ज्ञान प्रत्यनीकता, (२) ज्ञान-निह्नव, (३) ज्ञानान्तराय,

(४) ज्ञान-प्रद्वेष, (५) ज्ञानाशातना, (६) ज्ञान-विसंवादन-योग।

(२) दर्शनावरणीय—(१) दर्शन-प्रत्यनीकता, (२) दर्शन-निह्नव, (३) दर्शनान्तराय, (४) दर्शन-प्रद्वेष, (५) दर्शनाशातना, (६) दर्शन-विसंवादन-योग।

(३) क—सात-वेदनीय—(१) अदुःख, (२) अशोक, (३) अझूरण, (४) अटिप्पण, (५) अपिट्टण, (६) अपरितापन।

(ख) असात-वेदनीय—(१) दुःख, (२) शोक, (३) झूरण, (४) टिप्पण, (५) पिट्टन, (६) परितापन।

(४) मोहनीय—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शनमोहनीय, (६) तीव्र चारित्रमोहनीय।

(५) आयुष्य—(क) नारकीय—महा आरम्भ, महा परिग्रह, मांसाहार, पंचेन्द्रिय-वध।

(ख) तिर्यंच—(१) माया, (२) वञ्चना (३) असत्य वचन, (४) कूट तौल, कूट माप

(ग) मनुष्य—१ प्रकृति-भद्रता (२) प्रकृति-विनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

(घ) देव—(१) सराग-संयम, (२) संयमासंयम, (३) बाल-तप (४) अकाम निर्जरा।

(६) नाम-शुभ—(१) काय-ऋजुता, (२) भाव-ऋजुता, (३) भाषा ऋजुता, (४) अविसंवादन-योग।

अशुभ— (१) काय-अऋजुता, (२) भाव-अऋजुता, (३) भाषा अऋजुता, (४) विसंवादन-योग।

(७) गोत्र-उच्च—(१) जाति-अमद, (२) कुल-अमद, (३) बल-अमद, (४) रूप-अमद, (५) तप-अमद, (६) श्रुत-अमद, (७) लाभ-अमद, (८) ऐश्वर्य-अमद।

नीच—(१) जाति-मद, (२) कुल-मद, (३) बल-मद,

(४) रूप-मद, (५) तप-मद, (६) श्रुत-मद, (७) लाभ मद, (८) ऐश्वर्य-मद ,

(८) अन्तराय (१) ज्ञानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय । —भग ८।९

१३—भग० १।२।३४

१४—स्था० ४।१।२५१

१५—प्रज्ञा० २३।१।२९०

१६—भग० १८।३

१७—सम० ४, स्था० ४।४।३६२, ४।२।२९६

१८—वन्धनम्-निर्मापणम् —स्था० ८।५९६

१९—प्रज्ञा० प० २३

२०—स्था० २।४।१०५

२१—शरीर-संघातन-नाम कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल सन्निहित, एकत्रित या व्यवस्थित होते हैं और शरीर-वन्धन-नाम-कर्म के उदय से वे परस्पर वंध जाते हैं।

२२—संहनन का अर्थ है अस्थि-रचना विशेष —प्र०वृ० २३

२३—जीव की सहज गति सम श्रेणी में होती है। जीव का उत्पत्ति-स्थान सम श्रेणी में हो तो 'आनुपूर्वी नाम कर्म' का उदय नहीं होता। इसका उदय जन्म-स्थान विश्रेणी में स्थित हो तभी होता है—वह गति में ही होता है। इसकी प्रेरणा से सम श्रेणी से गति करने वाला जीव अपने विश्रेणी-स्थित जन्म-स्थान में पहुँच जाता है।

२४—'आतप-नाम-कर्म' का उदय सूर्य-मंडल के एकेन्द्रिय जीवों के ही होता है। इन जीवों के शरीर शीत हैं। केवल उनमें से निकलने वाली ताप-रश्मियां ही उष्ण होती हैं।

अग्निकायिक जीवों के शरीर से जो उष्ण-प्रकाश फैलता है, वह आतप-नाम कर्म के उदय से नहीं किन्तु उष्ण-स्पर्श नाम-कर्म तथा लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय से फैलता है।

२५—लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर और देवता के उत्तर वैक्रिय-शरीर में से, चांद, नक्षत्र और तारा मंडल से तथा रत्न और औषधियों व लकड़ियों से निकलने वाला शीत-प्रकाश उद्योत होता है।

२६—यहाँ गति का अर्थ है चलना। आकाश के विना कहीं भी गति नहीं हो सकती। फिर भी गति-नाम-कर्म, जो नरक आदि पर्याय-परिणति का हेतु है, से भिन्न करने के लिए "विहायस्" शब्द का प्रयोग किया है।

२७—सूक्ष्म शरीर चक्षु द्वारा देखे नहीं जा सकते। ये किसी को रोक नहीं सकते और न किसीसे रुकते भी हैं। इन पर प्रहार नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर पांच स्थावर काय के ही होता है। ये जीव समूचे लोक में व्याप्त होते हैं।

२८—बादर शरीर एक-एक चक्षु-गृहीत नहीं होते। इनका समुदाय चक्षु-ग्राह्य हो जाता है। सूक्ष्म शरीरों का समुदाय भी चक्षु-ग्राह्य नहीं होता।

२९—शिर लगाने से प्रसन्नता होती है, पैर लगाने से रोष आता है। इसका आधार यह हो सकता है।

३०—(क) भग० ८।९

(ख) मणवयकाय जोया जीवपएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएणजुत्ता विजुदा विय आसवा होंति॥

—स्वा० का० ८८

३१—(क) जीवेण कयस्स··· —प्रज्ञा० २३।१।२९२

(ख) समिय दुक्खे दुक्खी दुक्खाण मेवं आवट्टं अणुपरियट्टइ—

—आचा० २।६।१०५

३२—भग० ६।

३३—भग० ६

३४—दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी

—भग० वृ० ७।१।२६६

३५—भग० ७।१।२६६

३६—भग० ६।३

३७—प्रज्ञा० २३।१।२८६

३८— पुण्णं बंधहि जीवो मंद कसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मंद कसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वांछा—स्वा० का० ४१२

३९—पुरुपा० २१२-२२१

४०—औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनो वर्गणा।

४१—जैन० दी० ४।१

४२—कम्मवेयणा णो कम्मनिज्जरा—भग० ७।३

४३—२३।१।२१२

४४—८।५१६

४५—१।१।१२

४६—भग० ७।१०

४७—कर्म-निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेषः
—भग० वृ० ६।३।२३६

४८—बाधा—कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्
—भग० वृ० ६।३।२३६

४९—द्विविधा स्थिति······दलिकनिषेकः। —प्रज्ञा० वृ० २३.१।२९४

५०—अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः केवलं क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठितः—स्था० ४।१।२४९

५१—(क) स्था० ४।२।२४९
(ख) आभोगणिव्वत्तिए —स्था० ४।१।२४९

५२—स्था० ४।१।२६९

५३—स्था० ४।१।२४६

५४—प्रज्ञा० २३।१।२९३

५५—प्रदेशाः कर्मपुद्गलाः जीव प्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म।
—भग० वृ० १।४।४०

५६—अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयः रसः तद्रूपं क अनुभाग-कर्म। —भग० वृ० १।४।४०

५७—जाणियव्वं ण जाणाति; जाणिउ कामे ण याणाति; जाणित्ता वि याणाति; उच्छन्न नाणी या वि भवति—प्रज्ञा० २३।१।२९२

५८—भग० ७।१०

५९—　　दव्वं, खेतं, कालो, भवोय भावो य हेयवो पंच हेतु।
　　समासेणुदओ　जायइ　सव्वाए　पगईणं॥
—पं० सं

६०—प्रज्ञा० पृ० २३

६१—　जीव खोटा खोटा कर्त्तव्य करे, जब पुद्गल लागे ताम।
　ते उदय आयां दुःख उपजे, ते आप कमाया काम॥
　पाप उदय थी दुःख हुवे, जब कोई मत करज्यो रोष।
　किया जिसा फल भोगवे, पुद्गलनो सूं दोष—न० प०

६२—स० प्र० वृ०—२।५३ पृ०—१६४

६३—पुरुषा २।५३ पृ० १६४

६४—पुरुषा-२११

६५—　जो पर दव्वम्मि सुहं असुहं रागेन कुणदि जदि भाव।
　सो सग चरित्त भट्टो पर चरिय चरो हवदि जीवो॥
　आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणो भावेन।
　सो तेण पर चरित्त हवदि त्ति जिणा परुवंति॥
　जो सव्व संग मुक्कोऽणण्णमणं अप्पाणं सहावेण।
　जाणदि पस्सदि णियदं सो सग चरियं चरदि जीवो॥
　जस्स हि दयं सुमत्तं पर दव्वम्मि विज्जदे रागो।
　सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागम धरो वि॥
पंचा० १६४-१६५-१६६,१७

६६—　पुण्णेण होई विहवो, विहवेणमओ, मएण मइमोहो।
　मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥ २।६०

इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोग

कांक्षारूपनिदानवन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुनः समक्त्वादि गुण सहितम्। —पर० प्र० वृ० २।६० पृ० २०१-२०२

६७—प्र० वृ० २।६१

६८—पर० प्र० वृ० २।६०

६९—पर० प्र० वृ० ५७-५८

७०—उत्त: २९।१०

७१— वत्थुसहावो धम्मो. धम्मो, जो सो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहकोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो—कुन्दकुन्दाचार्य

७२—पुद्‌गलकर्म शुभंयत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्
—प्र० र० प्र० गाथा० ।२१९

७३—श्रुतचारित्राख्यात्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्यात्मपरिणामे —सू० वृ० २-५

७४—कर्म च पुद्‌गलपरिणामः, पुद्‌गलाश्चाजीवा इति। —स्था० वृ० ९

७५—धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म। —भग० १-७

७६—संसारोद्धरणस्वभावः —सू० वृ० १-६

७७—सौवण्णियं पि णिमलं, बंधदि कालायसं पि जाह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्म।—समय० १४६

७८—यदशुभ (पुद्‌गलकर्म) मथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्।
—प्र० र० प्र० २१९

७९—धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ। —आचा० वृ० ४

८०—निरवद्य करणीस्यूं पुण्य नीपजे, सावद्य स्यूं लागे पाप। —न० प०

८१—पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्।
—प्रज्ञा० वृ० प० २२

८२—योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः
—सू० वृ० २-५-१७, तत्वा० ६-३

शुद्धा योगा रे यदपि यतात्मनां स्रवन्ते शुभकर्माणि।
कांचननिगडांस्तान्यपि जानीयात्, हतनिर्वृतिशर्माणि॥
—शा० सु० आश्रवभावना

८३—भग० ८ २, तत्वा० ६, न० प०

८४—सुह-असुहजुत्ता, पुण्णं पापं हवंति खलु जीवा। —द्रव्य० सं० ३८

८५—पुण्णाइं अकुव्वमाणो—पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानानि अकुर्वाणः। —उत्त० वृ० १३।२१

एवं पुण्णपयं सोच्चा—पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं तत् पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं स्थानं पुण्यपदम्। —उत्त० वृ० १८।३४

८६—त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।

तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ। —सू० मु०

८७—प्राज्यं राज्यं सुभगदयितानन्दनानन्दनानां,

रम्यं रूपं सरस कविता चातुरी सुस्वरत्वम्।

नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,

किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥ —शा० सु० धर्म-भावना

८८—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्,

धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते। —पा० यो० २-१३

८९—सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

ते आह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् —पा० यो० २-१४

९०—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्। तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति, निष्प्रमादः॥

—समय० ३० मोक्षाधिकार

९१—पुण्य तणी वांछा कियां, लागैछै एकान्त पाप। —न० प० ५२

९२—नो इह लोगटठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठज्जा।

नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्टयाए तव महिट्ठिज्जा,

नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, —दशवै० ६-४

९३—मोक्षार्थी न प्रवर्तते तत्र काम्यनिषिद्धयोः·········

काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। —वे० सा० पृ० ४

९४—उत्त० २१-२४

९५—उत्त० १०।१५

९६—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। —गी० २-५०

९७—आस्रवो भवहेतुः स्यात्, सम्वरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥
—वी० स्तो० १९-६

९८—आस्रवो बन्धो वा बन्धद्वारा पाते च पुण्यपापे,
मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि। —स्था० वृ० ९ स्था०

९९—जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछ्यां काम ने भोग।
संसार वधै काम भोग स्यूं, पामै जन्म-मरण ने सोग॥ —न० प० ६०

१००—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
—कठ० उप० १-२-१

१०१—भग० १।३।३५

१०२—भग० १।३।३५

१०३— " ४।१। २५०

१०४—स्था० ४।४।३१२

१०५—स्था० ४।२।२१६

१०६—भग० ५।५

१०७—भेद का अर्थ है—उद्वर्तना करण के द्वारा मन्दरस का तीव्र रस होना और अपवर्तना करण द्वारा तीव्र रस का मन्दरस होना।

१०८—भग० ७।३

१०९—जैन० दी० ५।१३

११०—जैन० दी० ५।१५

१११—जैन० दी० ५।१६-३८

११२—जैन० दी० ५।१४

११३—कम्मं चिणंति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो॥
—वि० भा० १-३

११४...कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति वलियाइ।
　　जीवस्स य कमस्स य, पुव्व विरुद्धाइ वैराइ॥
　　　　—ग० वा० २-२५

११५—कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। —पा० यो० २ सूत्र १३

११६—२।१२

११७—स्था० ४।१।२३५

११८—तुलना—द्वे शरीरस्य प्रकती-व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्म-समाख्यातायाः प्रकृतेरूपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति—इति उपपन्नोऽपवर्गः।
　　　　—न्याय वा० ३।२।६८

११९—प्रज्ञा० (लेश्या पद)

१२०—तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—'उवसमखइय' त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषां पुनरुपशमक्षयौ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धि चाश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्लातेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये संभवत एवेति। —उत्त० वृ० ३४ अ०

१२१—प्रज्ञा० १७-४

१२२—उत्त० ३४-५६,५७

१२३—कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। —पा० यो० ४ सू० ७

१२४—सां कौ० पृष्ठ २००

१२५—श्वेताश्व उप० ४-५

१२६—अनु० १७०

१२७—अनु० १७०

१२८—अनु० १७१

१२९—अनु० १७२

१३०—अनु० १७३

: छह :

१—वर्णाकृत्यादि भेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्रार्घे गर्भाधान् प्रवर्त्तनात्।
नास्ति जाति कृतो भेदो, मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते। —उत्त० पु०

२—एक्का मणुस्स जाई, रज्जुपतीह दो क्या उसमे।
तिण्णेव सिप्प वणिए, सावग धम्मम्मि चत्तारि —आचा० १६

३—आचा० नि० २०-२७

४—क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्, दयाभिरक्षाकृपिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति, न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥

—वे० च० २५-११

५—स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं, क्षत्रियानसृजत् प्रभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि, क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः॥ २४३
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः॥
जलस्थलादियात्राभिः, तद्वृत्तिर्वार्तया यतः॥ २४४
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान्, पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा, तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता॥ २४५
मुखतोऽध्यायन् शास्त्रं, भरतः स्रक्ष्यति द्विजाम्।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छे-ज्यादि तत्क्रियाः॥ २४६

—महा० पु० पर्व १६

६—कारवोपि मता द्वैधा, स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः।
तत्राऽस्पृश्याः प्रजाः बाह्याः, स्पृश्याः स्युःकर्तृकादयः॥

—महा० पु० पर्व० १६-१८३

७—(क) स्वदेशोऽनक्षरम्लेच्छान्, प्रजाबाधा विधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः, स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

— आ० पु० ४२-१७६

(ख) कुतश्चित् कारणात् यस्य, कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादि-सम्मत्या, शोधयेत्स्वं यथाकुलम्॥
—आ० पु० ४०-१६८

८—(क) प्र० क० मा० ४-५ पृ० ४८२ (ख) न्या० कु० चं० ७६७

९—गोत्रं नाम तथाविधैकपुरुषप्रभवः —वंशः

१०—उच्चा गोया वेगे णीया गोया वेगे —सू० २।१-६

११—गोत्तकम्मे दुविहे पण्णत्ते—तं जहा—उच्चागोए चेव णीया गोये चेव।
—स्था० २ ४

१२—संताणकमेणागय, जीवामरणस्स गोदमिति सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं, उच्चं नीचं हवे गोदम्॥
—गो० जी० कर्म १३

१३—गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तत् गोत्रम्, उच्च नीच कुलोत्पत्ति लक्षणः पर्याय विशेषः, तद्विपाक वेद्य कर्मापि गोत्रम्, कारणे कार्योपचारात्, यद्वा कर्मणोऽपादानंविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तत् गोत्रम् —प्रज्ञा० वृ० २३

पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादि व्यपदेश्यरूपां गां वाचं त्रायते इति गोत्रम्।
—स्था० वृ० २-४

१४—उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिवन्धनम्, इतरद्—विपरीतम्।
—स्था० वृ० २, स्था० ४ उ०

उच्चम्—प्रभूतधनापेक्षया प्रधानम्। अवचम्—तुच्छधनापेक्षया अप्रधानम्। —दशवै० दी० ५-२-२५

१५—समुयाणं चरे भिक्खु कुलं उच्चावयं सया। —दशवै० ५।२।२७

१६—जात्या विशिष्टो जातिविशिष्टः, तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम्। वेदयते पुद्गलं वाह्यद्रव्यादिलक्षणम्। तथाहि द्रव्यसम्बन्धाद् राजादिविशिष्टपुरुषसम्परिग्रहाद् वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिसम्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते। —प्रज्ञा० वृ० पद २३

१७—आचा० वृ० १-६, प्र० सा० द्वार १५१

१८—जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकम् —व्य० वृ० उ० १

जाई कुले विभासा—जातिकुले विभाषा—विविधं भाषणं कार्यम्—

तच्चैवम्—जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमुग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्। —पि० नि० ४६८

१९—उत्त० वृ० ३-२

२०—सू० ६-१३

२१—स्था० ४-२

२२—स्था० ४-२

२३—सू० १।६।२-३

२४—उत्त० १२।१४

२५—बंभचेरेण बंभणो —उत्त० २५-३२

२६—उत्त० २५।२०,२६

२७—उत्त० २५।३३

२८—उत्त० ३।२-५

२९—(क) सू० १-१३-१५, (ख) दशवै० १०

३०—से असइं उच्चागोए; असइं णियागोए णो हीणे णो अइरित्ते णो पीहए; इइ संखाए को गोयावाई को माणावाई के सिवा एगे गिज्झे; तम्हा पण्डिए णो हरि से; णो कुज्झे; भूएहिं जाण पडिलेह सायं

—आचा० १।२।३

३१—एकस्मिन् वा जन्मनि नानाभूतावस्था उच्चावचाः कर्मवशतोऽनुभवति

—आचा० वृ० १-२-३-७८

३२—सू० १-१३-८-९

३३—सू० १-१३-१०-११

३४—सू० १-१३-१६

३५—सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण।

—सू० वृ० १।१३।७

३६—सू० १।१३।७

३७—सू० २।२।२५

३८—जातिः मातृकः पक्षः तथा आर्याः—अपाया निर्दोषाः—जात्यार्याः।

—स्था० वृ० ६।४९७

३६—कुलं पैतृकः पक्षः —स्था० वृ० ६।४६७

४०—स्था० ७।५५१

४१—स्था० ३।१।१२८

४२—स्था० ४।३।२२०

४३—(क) भग० २ (ख) दशवै० ५।२

४४—उत्त० १४

४५—स्था० ८।३।५६७

४६—ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः। —ऋग्० १०।६०।१२

४७—कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ उत्त० ३३—२५

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
सु० नि०—(अग्निक-भारद्वाज सूत्र १३)

४८—तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्। —महा० भा०

४९—अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

५०—मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाद्धि तद्भेदाः, चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ —आ० पु० ३८

५१—लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥
—पद्म० पु० ६।२०९-२१०

५२—स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।

५३—न जातिमात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपःशील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
संयमो नियमः शीलं, तपो दानं दमो दया।

विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां, सा जातिर्महती सताम् ॥—धर्म० प्रक० १७ परि०

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।

देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ —रत्न० श्रा० श्लो० २८

५४—देह विभेइयं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु।

सो ण वि लक्खणु मुणइ तहं, दंसणु णाणुचरित्तु—पर० प्र० १०२

५५—व्रतस्थमपि चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः। पद्म० पु० ११-२०३

५६—उत्त० १२-३७।

५७—प्रश्न०—२ आस्रव द्वार

: सात :

१—भग० १।६

२—आकाशमयोऽलोकः—जैन० दी० १।१०

३—षट्द्रव्यात्मको लोकः-जैन० दी० १।८

४—किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! पंचत्थिकाया—ओसए अवेत्तिओ लोओत्ति पवुच्चति ।

—भग० १३-४

५—जीवा चेव अजीवाय, अेस लोगे वियाहिए —उत्त० ३६।२

६—दुविहे आगासे पन्नत्ते—लोयागासेय, अलोयागासेय —भग० २·१०

७—स्था० २।४।६५

८—एक राजू असंख्य योजन का होता है।

६—जैन० अक्टूबर १६३४—लेखक प्रोफ़ेसर घासीलालजी

१०—खेत्तओ लोए सअंते—भग० २।१

११—गुणओ गमण गुणे—भग० २।१

१२—खेत्तओ लोगपमाण मेते—भग० २।१

१३—अहोलोए खेत्तलोए, तिरियलोए खेत्तलोए, उड्ढलोए खेत्तलोए ।

—भग० ११।१०

१४—भग० ११।६

१५—चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तंजहा—दव्वलोए, खेत्त लोए, काल लोए, भाव-लोए—भग० ११।१०

१६—दव्वओणं अेगे-दव्वेतो लोगे सअन्ते······भग० २।१

१७—खेत्तओ लोए सअन्ते—भग० २।१

१८—एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—एक लाख योजन की ऊँचाई में खड़ा है, नीचे चारों दिशाओं में चार दिक् कुमारिकाऐं हाथ में वलिपिण्ड लेकर वहिंमुखी रहकर उस वलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं। उस समय वह देवता दौड़ता है। चारों व

को जमीन पर गिरने से पहले हाथ में ले लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्र गति' है।

१६—कालतो लोए अणंते, भावतो लोए अणंते—भग०२-१

२०—भग०—१।६

२१—(क) आकाश स्वप्रतिष्ठ है। तनुवात (सूक्ष्म वायु), घनवात (मोटी वायु), घनोदधि और पृथ्वी इनमें क्रमशः आधार-आधेय सम्बन्ध है। सूक्ष्म जीव आकाश के आश्रय में भी रहते हैं। यहाँ कुछ स्थूल जीवों की अपेक्षा उन्हें पृथ्वी के आश्रित कहा गया है। अजीव शरीर जीव के आश्रित रहता है। उसका निर्माण जीव के द्वारा होता है और वह जीव से लगा हुआ रहता है। संसारी जीवों का आधार कर्म हैं।— कर्म मुक्त जीव संसार में नहीं रहते। अजीव, मन, भाषा आदि के पुद्गल, जीव द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। जीव कर्म के अधीन हैं। इसलिए वे कर्म सगृहीत हैं।……भग० १।६

(ख) गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"याज्ञवल्क्य! यह विश्व जल में ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है?"

वायु में गार्गी?

वायु किसमें ओत-प्रोत है?

अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक में, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।

ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य? यह अति प्रश्न है गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कट कर गिर पड़ेगा।

बृह० उप० ३।६।१

२२—असति सत् प्रतिष्ठितम्—सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं इ भव्य आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १७।१।२।६)

(क)……असत्, अभाव, शून्य में-निरस्त समस्तोपधिकनाम-रूप रहित

अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सत्भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपंच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपंच में सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पंच महाभूत निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पाँचों महाभूत समस्त कार्यों में विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं महाभूतों में—पीपल के बीज में पीपल के वृक्ष की तरह वर्तमान रहती है।

(ख) "तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च"—शत० १।१।२।३ ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने सोचा किस प्रकार मैं इन लोगों में पैठूं? तब वह नाम और रूप से इन लोगों में पैठा।

२३—स्वभाववाद, आकस्मिकवाद, यदृच्छावाद, अहेतुवाद, क्रम-विकासवाद प्लुतसंचारवाद, आदि-आदि।

२४—"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।"
"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः॥
अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद मत आवभूव।" -६
"इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्यामन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद"—७
(ऋग० १०।१२६ नासदीय सूक्त)

उस समय प्रलय दशा में असत् भी नहीं था। सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ की और किसने नहीं की ये सब वेही जाने, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हों।

२५—विशेष जानकारी के लिए देखिए:— आचा० नि० ४२, स्था० ३।१

२६—'सद् द्रव्यं वा'—भग० सत्-पद प्ररूपणा

२७—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।

२८—द्रव्यानु० त० ६-२

२९—द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्णपिण्डः।......... आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते। —पा० यो०

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ १ ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥ २ ॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता ॥ ३ ॥

—मी० श्लो० वा० पृष्ट ६१९

आविर्भावतिरोभाव-धर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद् धर्मी तत्र च ज्ञानं, प्राग् धर्मग्रहणाद् भवेत् ॥ —शास्त्र० दी०

३०—WHAT IS EATHER ?

I am quite sure that you have heard of ETHER before now, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons, to render a patient unconscious for an operation. If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromangnetic-waves. I would answer that. I can not accurately describe it. Nither can anyone else. The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body and that through it electormagnetic-waves can be propagated.

But let us see from a practical standpoint the

nature of the thing called "ETHER". We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases. Now, suppose that inside a glass-vassel there are no solids, liquid or gases; that all of these things have been removed including the air as well.

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vassel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a "Vaccum" has been created. But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'ETHER' nothing else.

So, we may say that Ether is a 'something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous nor anything else which can be observed by us physically. Therefore, we say that an absolute "Vaccum" or a void does not exist any where, for we know that an absolute vaccum can not be created for Ether can not be removed.

Well, you might say, if we don't know what Ether is, how do we know it exists ?

We get our knowledge of Ether from experiments; by observing results anb deducing facts. For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of anykind reaches our ears, Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist and thus, that sound must be due to vibration in the air.

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void cf air. We find that radio-signal's are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air. So we are right in deducing that elctromagnetic-waves, or 'Radio waves, do not depend upon air for their propagation.

that they are propagated through or by means of 'Something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted. This 'something' has been named "ETHER".

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth; and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere; and that electromagnetic wave can be propagated everywhere.

(Hollywood R. and T.)
Instruction Lesson No. 2

३१—भग० १३।४।४८१

३२—एगे धम्मे—एकः प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात्। —स्था० १

३३—लोयमेत्ते, लोयपमाणे —भग० २-१०

३४—धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
नालोकः कश्चित् स्यात्, न च सम्मतमेतदर्याणाम्॥ १॥
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्धयति लोकस्तद् विभुत्वात्॥ २॥

—प्रज्ञा० वृ० पद १

३५—लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते —प्र० वृ० प०

३६—यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः, स स सविपक्षः। यथा घटोऽघट विपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः। —न्याया०

३७—लोक्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति लोकः, लोकः—धर्माधर्मास्तिकाय व्यवच्छिन्ने, अशेषद्रव्याधारे, वैशाखस्थानकस्थितकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे। —आ० वृ० १-२-१

३८—अलोकाश्रन्तु भावासैभावैः पञ्चभिर्वर्जितम्॥
अनेनैव विशेषेण लोकाभात् पृथगीरितम॥—लो० प्र० २२८

३९—तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को मेत्रो॥ —न्याय०

४०—भग० १३।४

४१—भग० १३।४

४२—प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः, किं धर्माधर्मयोः फलम्॥ —नि० द्वा० २४

४३—वै० सू० २।२।१०

४४—स्था० २।३।८१

४५—उत्त० २८।९

४६—भग० १३।४

४७—दिश्यते-व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्त्वनयेति दिक्...:स्था० वृ० ३।३

४८—आचा० नि० ४२।४४

४९—आचा० नि० ४७।४८

५०—आचा० नि० ५१

५१—किमयं भंते! कालोति पव्वुचइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव।

५२—कइणं भंते दव्वा पण्णता? गोयमा! छद्व्वा पण्णता तंजहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए......भग०

५३—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति।
—स्था० ९५

५४—लोगागास पदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंख दव्वाणि॥
—द्रव्य सं० २२, गो० जी० ५८९, सर्वा० सि० ५।३९

५५—जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः
—न्या० का० ४५, वै० द० २।२।६—१०

५६—पा० यो० भाष्य—५२ सां० कौ० ३३

५७—तत्त्वा०—५।२२

५८—परापरत्वधिर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः—न्या० का० ४६ ..

५६—वै० सू० २।२।६

६०—मानव की कहानी पृष्ठ १२२५ का संक्षेप

६१—अयंतु विशेषः समयविशिष्टवृत्ति-प्रचयः शेष द्रव्याणामूर्ध्व-प्रचयः, समय-प्रचय एव कालस्योर्ध्वप्रचयः —प्रव० वृ० १४१

६२—स्था० ४।१

६३—भग० ११।११

६४—पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआ है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खंड कर खाम-खाम करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं—

६५—जीवेणं भंते ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि ।

—भग० ८।१०।३६१

६६—अचित्त-महास्कन्ध—केवली समुद्घात के पांचवें समय में आत्मा से छुटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त-महास्कन्ध कहते हैं—

६७—दुविहा पुग्गला पन्नता, तंजहा—परमाणुपुग्गला, नो परमाणु पुग्गला चेव । —स्था० २

६८—पृ० १२६

६९—स्था० ४, भग० ५।७

७०—परमाणु दुविहे पन्नते, तंजहा—सुहुमेय ववहारियेय ।—अनु०प्रमाणद्वार

७१—अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमिति समागयेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निफ्फज्जंति । —अनु० प्रमाणद्वार

७२—भग० २५।३

७३—परमाणु हिं अप्रदेशो गीयते—द्रव्यरूपतया सांशो भवतीति, न तु काल-भावाभ्यामपि 'अप्प रासो दव्वट्टाए' इति वचनात्, ततः कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । —प्रज्ञा० पद ५

७४—चहुविहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, तंजहा—वन्न परिणामे, गन्धपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे। —स्था० ४

७५—भग० ५।७

७६—भग० १८।८

७७—दोहिं ठाणे हि पोग्गला साहन्नंति, संयवा पोग्गला साहन्नंति, परेण वा पोग्गला साहन्नंति, एवं भिज्जंति, परिसडंति, परिवडंति विद्धंसंति। —स्था० २

७८—भग० ५।७

७९—प्रज्ञा० २८

८०—भग० १२।४

८१—भग० १४।४

८२—भग० १४।४

८३—उत्त० ३६।१०

८४—भग० ५।८

८५—भग० ५।८

८६—भग० ५।८

८७—भग० ५।८

८८—भग० ८।१

८९—भग० ८।१

९०—भग० १६।८

९१—भग० ५।७

९२—भग० ५।७

९३—भग० ५।७

९४—भग० २।१,

९५—उत्त० अ० २८ गा० १२

९६—पओग परिणया, मीसा परिणया, वीसा परिणया। —स्था० ३

९७—स्था० २०

९८—प्रज्ञा० प० ११,

६६—प्रज्ञा० प० ११,

१००—प्रज्ञा० प० ११

१०१—तएणं तीसेमेघोघरसिअँगंभीरमहुरयरसद्द जोयण परिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहिं सगूणेहिं वत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अण्णाइं सगूणाइं वत्तीसं घण्टा सयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं कोउं पयत्ताइं पि हुत्था।

—जम्बू प्र० ५ अ

१०२—प्रज्ञा० ११

१०३—प्रज्ञा० ११

१०४—तत्त्वा० रा० ५।३४

१०५—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०६—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०७—जघन्येतर-अजघन्य अर्थात् दो अंशवाला। दूसरा परमाणु भी दो अंशवाला होता है तब वह सम जघन्येतर तीन अंश वाला एकाधिक जघन्येतर आदि होता है।

१०८—तत्त्वा० रा० ५।३६

१०९—तत्त्वा० रा० ५।३६

११०—प्रज्ञा० प० १५,

१११—रश्मिः छाया पुद्गलसंहतिः।

११२—भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसितु कालाभा।
साचेव भासुर गया, सदेहवन्ना मुणेयव्वा॥ १॥
जे आदरिसं तत्तो, देहावयवा हवंति संकंता।
तेसिं तध्यऽवलंद्धी, पगासयोगा न इयरेसिं॥ २॥

—प्रज्ञा० वृ० पद १५

११३—अजामेकाम् —सां० कौ० १

११४—सोऽनन्तसमयः। —तत्त्वाः ५।४०

११५—धम्मं अहम्मं आगासं, दव्वं एक्केक्कमाहियं।
अणंताणिय दव्वानि, कालो पोग्गल जन्तवो। —उत्त० २८।८

११६—हि० भा० अंक १ लेख १

११७—हि० भा० अंक १

११८—हि० भा० अंक १ चित्र १

११९—यूनानी विद्वान् युक्लीड रेखागणित (दिशागणित) का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। युक्लीडीय-रेखागणित का आधार यह है कि विश्व का ओर-छोर नहीं है, वह अनन्त से अनन्त तक फैला हुआ है।

१२०—अनेकान्त वर्ष १ किरण ५ पृ० ३०८
"जैन भूगोलवाद"—ले० श्री बाबू घासीरामजी जैन S. S. C प्रोफेसर "भौतिक शास्त्र"

१२१—'आज०-वर्ष २, संख्या ११ मार्च १९४७।
'फिलिपाइन और उसके वासी—ले० R. वैंकटरामन

१२२—इंगलिशमेन ता० १६ सितम्बर १९२२ के अंक में लिखता है कि—
"वैनगनुई कारखाने के स्वामी मि० वाई द्वारा न्यूजीलैंड में बनाई गई १२ इञ्ची दूरबीन द्वारा मैसर्स टाऊनलेंड और हार्ट ने हाल ही में हवेरा में दो चन्द्रमाओं को देखा। जहाँ तक मालूम हुआ यह पहला ही समय है जब न्यूजीलैंड में दो चन्द्रमा दिखाई दिए।

१२३—पृथ्वी के गोलाकार होने के संबंध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी विन्दु से रवाना हो और सीधा चलता जाए तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान 'विन्दु' पर पहुँच जाएगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है। इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि यह चिपटी न होकर वर्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान-लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित विन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधा चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित विन्दु पर ही लौट आए।

—विश्व० भा०—लेखक श्री रमाकान्त—पृष्ठ १६०

१२४—कुछ विद्वानों की गवेषणा तथा खोज के परिणाम स्वरूप पृथ्वी का एक नवीन ही आकार माना गया है जो न पूर्णतया गोल है और न

अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी अक्षांश—यहाँ तक कि विशवत् रेखा भी-पूर्ण वृत्त नहीं है।

१२५—क्या भूगोल है? The Sunday News of India 2nd May 1954.

(विश्व-लेखक०—रामनारायण B. A. पृ० ३५)

१२६—(क) सु० च०

(ख) अनेक लोगों का मत है कि पृथ्वी गोल है। इसकी पार्श्ववर्ती गोलाई में एक ओर भारत स्थित है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका है अतः उनके विचार से अमेरीका ही पाताल लोक है।

[धर्म०—वर्ष ६ अंक ४६ दिसम्बर ४ १९५५

१२७—'जैन०' १ अक्टूबर १९३४

लेखकः–श्रीमान् प्रोफेसर घासीरामजी M. S. C.–A. P. S. लन्दन।

१२८—ज्यो० रत्ना०–भाग १ पृ० २२८—ले० देवकीनन्दन मिश्र।

१२९—सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, उनके संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए यह "आरम्भवाद" कहलाता है।

१३०—ईश्वरवादी सांख्य और योगदर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुणपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है, वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप से परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

१३१—(क) बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया "प्रतीत्य समुत्पादवाद" है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सन्तति प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

(ख) जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सांयोगिक अवस्थाओं के विना नहीं होता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। "घास में घी है"–यह ओघ शक्ति है। "दूध में घी है" –यह समुचित शक्ति है। ओघ शक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है, कारण की समग्रता बनती है और कार्य उत्पन्न हो जाता है।

गुणपर्याययोः शक्तिर्मात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥
प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धर्मशक्ति र्यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्तिः समुचितांगिनाम्॥
कार्यभेदाच्छक्ति भेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक् निश्चय नयादेकमनेकैः कार्य कारणैः॥
स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुण पर्यायव्यक्तयः।

द्रव्यानु० तं० २ अध्याय, ६ से १०

१३२—देखो कार्यकारणवाद।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व संकेत

अथर्ववेद—अथर्व०

अनुयोगद्वार—अनु०

अनेकान्त—अने०

अभिधान चिन्तामणिकोष—अभि० चि०

अन्ययोगव्यवच्छेदिका—अ० व्यव०

आचारांग—आचा०

आचारांग निर्युक्ति—आचा० नि०

आचारांग वृत्ति—आचा० वृ०

आज—

आदि पुराण—आदि०

आवश्यक सूत्र—आव०

इङ्गलिश मेन—

ईशावास्योपनिषद्—ईशा० उप०

उत्तर पुराण—उत्त० पु०

उत्तराध्ययन—उत्त०

उत्तराध्ययन वृत्ति—उत्त० वृ०

ऋग्वेद—ऋग्०

कठोपनिषद्—कठ० उप०

केनोपनिषद्—केन० उप०

कौषीतकी उपनिषद्—कौषी०

गणधरवाद—ग० वा०

गीता—गी०

गोमठसार (जीवकाण्ड)—गो० जी०

छान्दोग्यउपनिषद्—छान्दो०

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—जम्बू० प्र०

जैन दर्शन (प्रो० घासीराम)—जैन०
जैन सिद्धान्त दीपिका—जैन० दी०
ज्योतिष रत्नाकर—ज्यो० रत्ना०
तर्क संग्रह—तर्क० सं०
तत्वार्थ राजवार्तिक—तत्वा० रा०
तत्वार्थ सूत्र—त० सू०
तत्वानुशासन—तत्वा०
तन्दुवैयालीय—तन्दुवै०
तिलोयपन्नति—ति०
तैत्तरीयोपनिषद्—तैत्त० उप०
द्रव्यानुयोग तर्कणा—द्रव्यानु० त०
द्रव्य संग्रह—द्रव्य० सं०
दशवैकालिक—दशवै०
दशवैकालिक चूर्णि—दशवै० चू०
दशवैकालिक निर्युक्ति—दशवै० नि०
दशवैकालिक दीपिका—दशवै० दी०
दशाश्रुत स्कन्ध—दशा०
धर्म प्रकरण—धर्म० प्रक०
धर्मयुग—धर्म०
धर्मवादाष्टक—धर्मवा०
नन्दी सूत्र—नं०
नया समाज—नया०
नवनीत—नव०
नवसद्भाव पदार्थ निर्णय—न० प०
निरुक्त—नि०
न्याय कारिकावली—न्या० का०
न्याय कुमुद चन्द्र—न्या० कु० चं०
न्याय वार्तिक—न्या० वा०

न्याय सूत्र—न्या० सू०
न्यायालोक—न्या०
न्यायावतार—न्याया०
पद्मपुराण—पद्म० पु०
परमात्म प्रकाश—पर० प्र०
प्रमाण नयतत्वालोकालंकार—प्र० न०
प्रमेय कमल मार्तण्ड—प्र० क० मा०
प्रवचन सार—प्र० सा०
प्रवचनसार वृत्ति—प्र० वृ०
प्रश्नव्याकरण—प्रश्न०
प्रशम रति प्रकरण—प्र० र० प्र०
प्रज्ञापना—प्रज्ञा०
प्रज्ञापना वृति—प्रज्ञा० वृ०
पंचसंग्रह—पंच०
पंचास्तिकाय—पंचा०
पंच वस्तुक—पं० व०
बुद्ध चरित्र—बु० च०
ब्रह्म भाष्य—ब्रह्म०
भगवती वृति—भग० वृ०
भगवती सूत्र—भग०
भिक्षु न्यायकर्णिका—भिक्षु० न्या०
मज्झिम निकाय—म० नि०
मनुस्मृति—मनु०
महाभारत—महा० भा०
महा पुराण—महा० पु०
मीमांसा श्लोक वार्तिक—मी० श्लो० वा०
मुण्डकोपनिषद्—मुण्ड० उप०
योग दृष्टि समुच्चय—योग० दृ० स०
योग शास्त्र—योग०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व (पहला भाग)
" " " " (दूसरा भाग)
जैन धर्म और दर्शन
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार-मीमांसा
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा तत्त्व दर्शन
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन
आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च